कदापि नहीं मिल सकती। इस लिये मोक्ष जाने की इच्छा रखने वालों को विषयों का संसर्ग कदापि नहीं करना चाहिये।

मालिनी।

अभजदजितदेवाचार्य पट्टोदयाद्रि-
द्युमणि विजयसिंहाचार्य पदारविन्दे।
मधुकर समतां यस्तेन सोमप्रभेण
व्यरचि मुनिपनेत्रा सूक्तिमुक्तावलीयम्॥

कवित्त छन्द।

जैन-वंस-सर-हंस दिगम्बर, मुनिपती अजितदेव अति आरज।
तौके पद वादी मद भंजन, प्रगटे विजयसेन आचारज॥
कि पट्टभए सोमप्रभ, तिन ए ग्रन्थ कियो हितकारज।

जाके पढ़त सुनत अवधारत, है सुपुरुष अनारज ॥९९॥

अन्वयार्थी - (यः) जो (अजित देवाचार्य पट्टो

दयाद्रि द्युमणि विजयसिंहाचार्य पादारवि

न्दे मधुकर समताम् अभजत) अजितदेव आचार्य के पट्ट रूपी उदयाचल पर सूर्य के

समान विजयसिंह आचार्य के चरणरूपी

कमलों में भ्रमर की समता करता था, (तेन

सोम प्रभेण) उस सोमप्रभ

आचार्य ने (इयम् सूक्ति मुक्तावली) यह

सूक्ति मुक्तावली (उत्तम वचनरूप मोतियों

की माला) (व्यरचि) बनाई।

इन्द्रवज्रा।

सोमप्रभाचार्य प्रभा च लोके वस्तु प्रकाशं

कुरुते यथाशु।

तथायमुच्चैरुपदेशलेशः शुभोत्सव ज्ञान

१ इस श्लोक का भी भाषा छंद नहीं मिला।

गुणां स्तनोति ॥१००॥

अन्वयार्थौ– (यथा) जैसे (लोके) लोक में (सोमप्रभा) चन्द्रमा की प्रभा (च) और (आचार्य प्रभा) आचार्यों की प्रभा वा प्रतिभा (आशु वस्तु प्रकाशं कुरुते) शीघ्र वस्तु का प्रकाश करती है, (तथा) उसी तरह (अयम उपदेशलेश:) यह थोड़ा सा उपदेश (उच्चै: शुभोत्सव ज्ञानगुणान्) उत्कृष्ट कल्याण, आनन्द और ज्ञानादि गुणों को (तं-नोति) बढ़ाता है। इस श्लोक में ग्रन्थ कर्त्ता ने अपना 'सोमप्रभाचार्य' नाम व्यक्त किया है।

पद्यानुवाद का परिचय।

दोहा।

नाम सूक्तिमुक्तावली, द्वाविंशति अधिकार।
शत श्लोक परमान सब, इति(?) ग्रन्थ विस्तार ॥१॥
कुँवर पाल बानारसी, मित्र जुगल इकचित्त।
तिनोहिं ग्रन्थ भाषा कियो, बहुविधि छन्द कवित्त ॥२॥
सोलह सौ इक्यानवे, रितु ग्रीषम वैशाख।
सोमवार एकादशी, कौरव छत्र सित पाख ॥३॥

इति श्री सोमप्रभाचार्य विरचिता सिन्दूरप्रकारापरपर्याया सूक्तिमुक्तावली भाषाछन्दानुवाद सहिता समाप्ता।



श्रीसोमप्रभाचार्यविरचित

सूक्तमुक्तावली

भाषापद्यानुवाद और अर्थसहित।

धर्माधिकार।

शार्दूलविक्रीडित।

सिन्दूरप्रकरस्तपःकरिशिरःक्रोडे कषायाटवी-
दावार्चिर्निचयः प्रबोधदिवसप्रारम्भसूर्योदयः।
मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरसः श्रेयस्तरोः पल्लव-
प्रोल्लासः क्रमयोर्नखद्युतिभरः पार्श्वप्रभोः पातु वः ॥ १ ॥

छप्पय।

शोभित-तपगजराज,-सीसर्सिदूर पूरछवि।
बोधदिवस-आरंभ,-करण-कारण उदोत रवि ॥
मंगलतरुपल्लव, कषायकांतारहुतासन।
बहुगुणरत्ननिधान, मुक्तिकमलाकमलासन ॥
इहिविधि अनेक उपमासहित, अरुण चरण संतापहर।
जिनराय पार्श्वनखज्योतिभर, नमत 'बनारसि' जोर कर ॥ १ ॥

अन्वयार्थौ—(तपःकरिशिरःक्रोडे) तपरूपी हाथीके मस्तकके मध्यभागमें (सिन्दूरप्रकरः) सिन्दूरके पुंजके समान

(कषायाटवीदावार्चिर्निचयः) कषायरूपी वनको जलानेवाले दावानलके समान, (प्रबोधदिवसप्रारम्भसूर्योदयः) ज्ञानरूपी दिवसके प्रारम्भके सूर्योदयके समान, (मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरसः) मुक्तिरूपी स्त्रीके कुचकुम्भोंपर लगे हुए केशरके रसके समान और (श्रेयस्तरोः) कल्याणरूपी वृक्षकी (पल्लवप्रोल्लासः) निकलती हुई नई कोंपलोंके समान (पार्श्वप्रभोः) श्रीपार्श्वनाथके भगवानके (क्रमयोः) दोनों चरणोंके (नखद्युतिभरः) नखोंकी कान्तिका समूह, (वः) तुम्हारी (पातु) रक्षा करो।

भावार्थ—पार्श्वनाथ भगवानके चरणोंके लाल और चमकते हुए नख सम्पूर्ण भव्यजीवोंका कल्याण करें।

सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारोद्यताः
सूतेऽम्भः कमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत्।
किं वाभ्यर्थनयानया यदि गुणोऽस्त्यासां ततस्ते स्वयं
कर्त्तारः प्रथने न चेदथ यशःप्रत्यर्थिना तेन किम्॥२॥

दोधकान्तवेसरीछन्द।

जैसे कमल सरोवर वासै। परिमल तासु पवन परकासै।
त्यों कवि भाषहि अक्षर जोर। संत सुजस प्रगटहिं चहुँओर॥
जो गुणवन्त रसाल कवि, तौ जग महिमा होय।
जो कवि अक्षर गुणरहित, तौ आदरै न कोय॥२॥

अन्वयार्थौ—(मम) मेरे (वाचां) वचनोंके (विचारोद्यताः) विचार करनेमें उद्यत हुए (सन्तः) सज्जन पुरुष (प्रसन्नमनसः) प्रसन्न चित्त (सन्तु) होओ। (यत्) क्योंकि (कमलानि) कमलोंको (सूते) उत्पन्न तो करता है (अम्भः)

जल और, (तत्परिमलं) उनकी सुगन्धिको (वितन्वन्ति) चारों ओर फैलाता है (वाताः) वायु। (वा) अथवा (अनया) इस (अभ्यर्थनया) प्रार्थनासे (किम्) क्या ? अर्थात् 'इस ग्रन्थको देखनेवाले सज्जन प्रसन्न होवें' मेरी इस प्रार्थनासे कुछ लाभ नहीं। क्योंकि (यदि) यदि (आसाम्) इस वाणीमें (गुणः) गुण (अस्ति) हैं, (ततः) तो (ते) वे सज्जन पुरुष (प्रथने) उन गुणोंके प्रसिद्ध करनेमें (स्वयं) अपने आप (कर्त्तारः) कर्त्ता हो जावेंगे। अर्थात् वे स्वय उनको प्रसिद्ध करेंगे। (अथ) और यदि (न चेत्) मेरे इन वचनोंमें अर्थात् इस ग्रन्थमें गुण नहीं है, तो (तेन) उस (यशःप्रत्यर्थिना) गुणोके अभावरूप अपयशसे (किम्) क्या लाभ है ?

भावार्थ—जिस तरह कमलोंको उत्पन्न तो करता है जल, परन्तु उनके सौरभको सब ओर फैलाता है वायु। इसी तरह यद्यपि इस ग्रन्थको बनाता हूं मै, परन्तु इसका प्रचार करेंगे सज्जन पुरुष ही। इस लिये वे मुझपर प्रसन्न होवें। परन्तु एक तरहसे इसके लिये उनसे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नही दीखती है। क्योंकि यदि इस ग्रन्थमें गुण होंगे, तो वे स्वयं उन्हें प्रकाशित करेंगे और यदि नही हैं—दोष ही दोष है, तो इसके प्रचार करनेसे जो अपयश होगा, उससे क्या लाभ ?

इन्द्रवज्रा।

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विनायद्भवतोऽर्थकामौ ॥

दोधकान्तवेसरीछन्द ।

सुपुरुष तीन पदारथ साधहिं । धर्म विशेष जानि आराधहिं ।
धरम प्रधान कहैं सब कोय । अर्थ काम धर्महिंतैं होय ॥
धर्म करत संसारसुख, धर्म करत निर्वान ।
धर्मपंथसाधन विना, नर तिर्यंच समान ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौ—(नरस्य) मनुष्यका (आयुः) जीवन (त्रिवर्गसंसाधनम्) धर्म अर्थ और कामके सेवन करनेके (अन्तरेण) विना (पशोः इव) पशुओंकी तरह (विफलम्) निष्फल है । (तत्र अपि) और उन तीनोंमें भी (धर्मम्) धर्मको (प्रवरं) प्रधान (वदन्ति) कहते हैं । (यत्) क्योंकि (तं) उसके (विना) विना (अर्थकामौ) अर्थ और काम (न) नही (भवतः) हो सकते हैं ।

भावार्थ—धर्म करना, अर्थ (धन) कमाना, और कामसेवन (पांचों इंद्रियोंके विषयोंका सेवन) करना, इन तीनोंका यथा-योग्य साधन करना चाहिये । इनके साधनके विना मनुष्यका जीवन पशुओंके समान व्यर्थ जाता है । इन तीनोंमें भी धर्म साधन करना सबसे मुख्य है । उसे अवश्य ही करना चाहिये । क्योंकि अर्थ और काम धर्मपालन करनेहीसे होते हैं ।

यः प्राप्य दुष्प्रापमिदं नरत्वं धर्मं न यत्नेन करोति मूढः ।
क्लेशप्रबन्धेन स लब्धमब्धौ चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ॥

कवित्त (३१ मात्रा) ।

जैसे पुरुष कोउ धन कारण, हींडत दीपदीप चढ़ि यान ।
आवत हाथ रतनचिन्तामणि, डारत जलधि जानि पाषान ॥

तैसे भ्रमत भ्रमत भवसागर, पावत नरशरीर परधान।
धर्मयत्न नहिं करत 'बनारसि', खोवत वादि जनम अज्ञान ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (मूढः) मूर्खपुरुष (दुष्प्रापम्) अति कठिनतासे प्राप्त होने योग्य (इदम्) इस (नरत्वम्) मनुष्य जन्मको (प्राप्य) पाकर (यत्नेन) प्रयत्नपूर्वक (धर्मम्) धर्मसेवन (न) नही (करोति) करता है, (सः) वह (क्लेशप्रबन्धेन) बडे क्लेश और कठिनतासे (लब्धं) पाये हुए (चिन्तामणिं) चिन्तामणि रत्नको (प्रमादात्) प्रमादसे (अब्धौ) समुद्रमें (पातयति) फेंक देता है।

भावार्थ—जैसे कोई एक कीमती रत्नको समुद्रमें फेंक देता है, उसी प्रकारसे अनादि कालसे भ्रमण करते करते कठिनाईसे पाये हुए मनुष्य जन्मको मूर्ख पुरुष विषयादिकोंके सेवनमें खो देते हैं—धर्मका सेवन नही करते है।

मन्दाक्रान्ता।

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यैन्धभारम्।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद्वायसोड्डायनार्थं
यो दुष्प्रापं गमयति मुधा[1] मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥ ५ ॥

मतगयन्द (सवैया)।

ज्यों मतिहीन विवेक विना नर, साजि मतंगज ईंधन ढोवै।
कंचनभाजन धूल भरै शठ, मूढ सुधारससों पग धोवै॥

---

१ व्यर्थ।

चाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै ।
त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसि', पाय अजान अकारथ खोवै ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (प्रमत्तः) प्रमादी वा मूर्ख पुरुष (दुष्प्रापम्) कठिनतासे प्राप्त होनेवाले (मर्त्यजन्म) मनुष्यजन्मको (मुधा) व्यर्थ ही (गमयति) खोता है (सः) वह पुरुष मानों (स्वर्णस्थाले) सुवर्णके थालमें (रजः) धूल (क्षिपति) रखता है, (पीयूषेण) अमृतसे (पादशौचम्) पाद प्रक्षालन (विधत्ते) करता है—अर्थात् पैर धोता है, (प्रवरकरिणम्) श्रेष्ठ हाथीपर (एधभारम्) ईंधनका बोझा (वाहयति) ढोता है और (वायसोड्डायनार्थम्) कौवेके उड़ानेके लिये (चिन्तारत्नम्) चिन्तामणि रत्नको (करात्) हाथसे (विकिरति) फेंकता है।

भावार्थ—मनुष्यजन्मको व्यर्थ खोनेवाला मनुष्य उक्त कार्य करनेवालेके समान मूर्ख है। इसलिये उसको धर्मसेवन करके सफल करना चाहिये।

शार्दूलविक्रीडित ।

ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः ।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया ॥६

कवित्त (३१ मात्रा)

ज्यों जरमूर उखारि कलपतरु, बोवत मूढ़ कनकको खेत ।
ज्यों गजराज बेच गिरिवर सम, कूर कुबुद्धि मोल खर लेत ॥

---

१ धतूरेका । २ गर्दभ (गधा)।

जैसे छांड़ि रतन चिन्तामणि, मूरख काचखंड मन देत।
तैसे धर्म विसार 'वनारसि', धावत अधम विषयसुखहेत॥ ६॥

अन्वयार्थौ—(ये) जो (अधमाः) नीच पुरुष (लब्धम्) प्राप्त हुए (धर्मम्) धर्मको (परिहृत्य) छोड़कर (भोगाशया) भोगोपभोगोंके सेवन करनेकी आशा करनेसे (धावन्ति) दौड़ते हैं–भटकते है, (ते) वे (कल्पद्रुमम्) कल्पवृक्षको (प्रोन्मूल्य) उखाड कर (भवने) अपने घरमें (धत्तूरतरुम्) धत्तूरके वृक्षको (वपन्ति) वोते हैं, (ते) वे (जडाः) मूर्ख (चिन्तारत्नम्) चिन्तामणि रत्नको (अपास्य) छोड़कर (काचशकलम्) काचके टुकड़ेको (स्वीकुर्वते) स्वीकार करते है। और (ते) वे (गिरीन्द्रसदृशम्) सुमेरु पर्वतके समान (द्विरदम्) हाथीको (विक्रीय) वेचकर (रासभम्) गदहेको (क्रीणन्ति) खरीदते है।

भावार्थ—जो पुरुष किसी तीव्र शुभ कर्मके उदय और अशुभ कर्मके क्षयोपशमादिकसे प्राप्त हुए जैनधर्मको छोड़ देते हैं अथवा उसके सेवनकरनेमें शिथिलता करते है, उन्हें ऊपर कहे हुए काम करनेवाले मूर्खोंके समान समझना चाहिये।

शिखरिणी।

अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवं
न धर्मं यः कुर्याद्विषयसुखतृष्णातरलितः।
ब्रुडन्पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणं
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते॥ ७॥

सोरठा।

ज्यों जल बूड़त कोय, वाहन तज पाहन गहै।
त्यों नर मूरख होय, धर्म छांड़ि सेवत विषय ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (विषयसुखतृष्णातरलितः) विषयोंके सेवन करनेसे प्राप्त हुए सुखकी तृष्णामें मग्न हुआ जीव (अपारे) (संसारे) इस अपार ससारमें (कथं अपि) किसी तरहसे (नृभवम्) मनुष्यजन्मको (समासाद्य) पाकर (धर्मम्) धर्मसेवन (न) नही (कुर्यात्) करता है, (सः) वह (मूर्खाणाम्) मूर्खोंमें (मुख्यः) मुख्य अर्थात् अतिशय मूर्ख (पारावारे) समुद्रमें (ब्रुडन्) डूबते समय (प्रवरम्) श्रेष्ठ (प्रवहणम्) जहाजको (अपहाय) छोड़कर (उपलम्) पाषाणके (उपलब्धुम्) पकड़नेके लिये (प्रयतते) प्रयत्न करता है।

भावार्थ—जो धर्मको छोड़कर विषयसेवनमें लीन होता है, वह उस मूर्खके समान है, जो समुद्रमें डूबता हुआ भी जहाजको छोड़कर पाषाण पकड़नेका प्रयत्न करता है।

द्वार गाथा।

शार्दूलविक्रीडित।

भक्तिं तीर्थकरे गुरौ जिनमते संघे च हिंसानृत-
स्तेयाब्रह्मपरिग्रहव्युपरमं क्रोधाद्यरीणां जयम्।
सौजन्यं गुणिसङ्गमिन्द्रियदमं दानं तपोभावनां
वैराग्यं च कुरुष्व निर्वृतिपदे यद्यस्ति गन्तुं मनः ॥ ८ ॥

छप्पय।

जिन पूजहु गुरु नमहु, जैनमतवैन बखानहु।
संघभक्ति आदरहु, जीवहिंसा न विधानहु ॥

झूठ अदत्त कुशील, त्यागि परिग्रह परमानहु।
क्रोध मान छल लोभ जीत, सज्जनता ठानहु॥
गुणिसंग करहु इन्द्रिय दमहु, देहु दान तप भावजुत।
गहि मन विराग इहिविधि चहहु, जो जगमें जीवनमुकत॥८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् (यदि) यदि (मनः) तेरा मन (निर्वृतिपदे) मोक्षमें (गन्तुं अस्ति) जाना चाहता है, तो तू (तीर्थंकरे) तीर्थंकरमें, (गुरौ) गुरुमें, (जिनमते) जिन-मतमे, और (संघे) मुनि अर्जिका श्रावक और श्राविका इनके समूहरूप संघमें, (भक्ति कुरुष्व) भक्ति कर (च) और (हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहन्युपरमम्) हिसा झूठ चोरी अब्रह्म और परिग्रहका त्याग, (क्रोधाद्यरीणाम्) क्रोध मान माया लोभ-रूप शत्रुओंका (जयम्) विजय, (सौजन्यम्) सुजनता, (गुणिसङ्गम्) गुणीपुरुषोंकी सङ्गति, (इन्द्रियदमम्) इन्द्रियोंका दमन, (दानम्) दान, (तपोभावनां) तपोभावना और (वैराग्यम्) वैराग्य अर्थात् ससारदेह भोगसे उदासीनता (कुरुष्व) कर।

भावार्थ—यदि मोक्ष जानेकी इच्छा हो, तो ऊपर लिखे कार्य करना चाहिये।

पूजाधिकार।

पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति नीरोगताम्।
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः
स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता॥९॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

लोपै दुरित हरै दुख संकट, आपै रोगरहित नित देह।
पुण्यभँडार भरै जस प्रगटै, मुकति पंथसों करै सनेह॥
रचै सुहाग देय शोभा जग, परभव पँहुचावत सुरगेह।
कुगतिबंध दलमलहि बनारसि, वीतरागपूजाफल यह॥ ९॥

अन्वयार्थौ—(**अर्हताम्**) श्रीवीतराग सर्वज्ञदेवकी (**निर्मिता**) की हुई (**अर्चा**) पूजा (**पापम्**) पापका (**लुम्पति**) लोप कर देती है, (**दुर्गतिम्**) नरकादिक दुर्गतियोंको (**दलयति**) नष्ट कर देती है, (**आपदम्**) आपदाओंका (**व्यापादयति**) दलन करती है, (**पुण्यम्**) पुण्यको (**संचिनुते**) संचित करती है, (**श्रियम्**) लक्ष्मीको (**वितनुते**) बढाती है, (**नीरोगताम्**) नीरोगताको (**पुष्णाति**) पुष्ट करती है, (**सौभाग्यम्**) सौभाग्यको (**विदधाति**) अटल रखती है, (**प्रीतिम्**) प्रीतिको (**पल्लवयति**) पल्लवित करती है, (**यशः**) कीर्त्तिको (**प्रसूते**) उत्पन्न करती है, (**स्वर्गम्**) स्वर्गको (**यच्छति**) देती है (**च**) और (**निर्वृतिम्**) मोक्षको (**रचयति**) रचती है अर्थात् मोक्षप्राप्त कर देती है।

भावार्थ—अरहंतदेवकी पूजा करनेसे अशुभ कर्मोंका उपशम होता है और शुभ क़र्मोंका उदय तथा वृद्धि होती है।

स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा
सौभाग्यादिगुणावलिर्विलसति स्वैरं वपुर्वेश्मनि।

---

१ देवै।

संसारः सुतरः शिवं करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा
यः श्रद्धाभरभाजनं जिनपतेः पूजां विधत्ते जनः ॥१०॥

देवलोक ताको घर-आँगन, राजरिद्ध सेवैं तसु पाय।
ताके तन सौभाग्यआदिगुन, केलि विलास करैं नित आय॥
सो नर तुरत तिरै भवसागर, निर्मल होय मोक्षपद पाय।
द्रव्य-भाव-विधिसहित बनारसि, जो जिनवर पूजै मन लाय १०

अन्वयार्थौ—(यः) जो (जनः) मनुष्य (जिनपतेः) जिनेन्द्रदेवकी (श्रद्धाभरभाजनम्) अत्यन्त श्रद्धापूर्वक (पूजाम्) पूजा (विधत्ते) करता है, (तस्य) उसको (स्वर्गः) स्वर्ग (गृहाङ्गणम्) घरका आगन है और (साम्राज्यलक्ष्मीः) राज्यसम्पदा (शुभा) अच्छी (सहचरी) सखी है, (वपुर्वेश्मनि) उसके शरीररूपीघरमें (सौभाग्यादिगुणावलिः) सौभाग्य आदिक गुणोंके समूह (स्वैरम्) स्वतंत्रता पूर्वक (विलसति) विलास करते है, (संसारः) परिभ्रमणरूप ससार (सुतरः) उसके लिये सुतर है—अर्थात् वह उसके पार सहज ही हो सकता है। और (शिवम्) मुक्ति तो (अञ्जसा) शीघ्र ही (करतलक्रोडे) उसकी हथेलीपर आकर (लुठति) लोटती है।

भावार्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेको स्वर्गादिक सम्पदाएं सहज ही मिल सकती है।

शिखरिणी।

कदाचिन्नातङ्कः कुपित इव पश्यत्यभिमुखं
विदूरे दारिद्र्यं चकितमिव नश्यत्यनुदिनम्।

विरक्ता कान्तेव त्यजति कुगतिः सङ्गमुदयो
न मुञ्चत्यभ्यर्णं सुहृदिव जिनार्चां रचयतः ॥ ११ ॥

ज्यौं नर रहै रिसाय कोप करि, त्यौं चिन्ता भय विमुख बखान।
ज्यौं कायर शंकै रिपु देखत, त्यौं दरिद्र भाजै भय मान॥
ज्यौं कुनारि परिहरै पंढपति, त्यौं दुर्गति छंडै पहिचान।
हितु ज्यौं विभौ तजै नहिं संगत, सो सब जिनपूजाफल जान ११

अन्वयार्थौ—(**जिनार्चाम्**) जिनेन्द्रदेवकी पूजा (**रचयतः**) करनेवाले पुरुषके (**अभिमुखम्**) साम्हने (**आतङ्कः**) रोग (**कुपित इव**) क्रोधित हुए मनुष्यके समान (**कदाचित्**) कभी (**न**) नहीं (**पश्यति**) देखता, (**दारिद्र्यम्**) दरिद्रता (**चकितम् इव**) डरे हुएके समान (**अनुदिनम्**) प्रतिदिन (**विदूरे**) दूर ही रहती है, (**कुगतिः**) दुर्गति (**विरक्ता**) रूठी हुई (**कान्ता इव**) स्त्रीके समान (**त्यजति**) छोड़ देती है, और (**उदयः**) भाग्योदय अर्थात् विभूति (**सुहृत् इव**) सच्चेमित्रके समान (**अभ्यर्णम्**) निरन्तर अर्थात् किसी भी क्षणमें (**सङ्गम्**) साथ (**न**) नहीं (**मुञ्चति**) छोड़ती।

भावार्थ—जिनेन्द्रकी पूजा करनेवाले पुरुषको दुर्गति रोग दारिद्र आदि दूरसे ही छोड़ जाते है और विभूति ऐश्वर्य आदिक निरन्तर साथ रहते है।

शार्दूलविक्रीडित।

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोऽर्च्यते
यस्तं वन्दत एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते।

१ नपुंसकपतिको।

यस्तं स्तौति परत्र वृत्रदमनस्तोमेन स स्तूयते
यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः॥१२॥

जो जिनेंद्र पूजै फूलनसों, सुरनैनन पूजा तिस होय।
वंदै भावसहित जो जिनवर, वंदनीक त्रिभुवनमें सोय॥
जो जिन सुजस करै जन ताकी, महिमा इन्द्र करैं सुरलोय।
जो जिन ध्यान करत बानारसि, ध्यावैं मुनि ताके गुण जोय॥१२॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (**जिनम्**) जिनेन्द्रदेवको (**पुष्पैः**) पुष्पोंसे (**अर्चति**) पूजता है, (**सः**) वह पुरुष (**स्मितसुरस्त्री-लोचनैः**) मुसकुराती हुई देवांगनाओंके नेत्रोंद्वारा (**अर्च्यते**) पूजा जाता है, (**यः**) जो (**तम्**) उनकी (**एकशः**) एकवार (**वन्दते**) वन्दना करता है, (**सः**) वह पुरुष (**त्रिजगता**) तीनों लोकोंके द्वारा (**अहर्निशम्**) रातदिन (**वन्द्यते**) वन्दना किया जाता है, (**यः**) जो पुरुष (**तम्**) उनकी (**स्तौति**) स्तुति करता है (**सः**) वह (**परत्र**) परलोकमें (**वृत्रदमनस्तोमेन**) इन्द्रोंके समूहद्वारा अर्थात् सौ इन्द्रोंके द्वारा (**स्तूयते**) स्तुति किया जाता है और (**यः**) जो (**तम्**) जिनेन्द्रदेवका (**ध्यायति**) ध्यान करता है, (**सः**) वह (**क्लृप्तकर्मनिधनः**) समस्त कर्मोंसे रहित होता हुआ (**योगिभिः**) योगियोंद्वारा (**ध्यायते**) चिन्तवन किया जाता है।

भावार्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा, वन्दना ध्यानादिक करनेवाला पुरुष इन्द्रादिकोंद्वारा पूजा बन्दा और ध्याया जाता है।

गुरु अधिकार ।

वंशस्थविलम् ।

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्त्तते प्रवर्त्तयत्यन्यजनं च निस्पृहः ।
स सेवितव्यः स्वहितैषिणा गुरुः स्वयं तरँस्तारयितुं क्षमः परम् ॥ १३ ॥

अडिल्ल छन्द ।

पापपंथ परिहरहिं, धरहिं शुभपंथ पग ।
पर-उपगार निमित्त, वखानहिं मोक्षमग ॥
सदा अवांछित चित्त, जु तारन तरन जग ।
ऐसे गुरुको सेवत, भागहिं करम ठग ॥ १३ ॥

अन्वयार्थौ—(**यः**) जो (**अवद्यमुक्ते**) पापरहित (**पथि**) मार्गमें (**प्रवर्त्तते**) स्वयं प्रवर्त्तता है (**च**) और (**निस्पृहः'सन्'**) निस्पृह होकर अर्थात् विना किसी आशाके (**अन्यजनम्**) दूसरे मनुष्योंको (**प्रवर्त्तयति**) प्रवर्त्तन कराता है, इसी प्रकार जो (**स्वयं तरन्**) संसाररूपी समुद्रसे आप तरता हुआ (**परम्**) दूसरोंको (**तारयितुम्**) तारनेके लिये (**क्षमः**) समर्थ है, (**सः**) वह (**गुरुः**) सद्गुरु (**स्वहितैषिणा**) जो अपना भला चाहते है, उनके द्वारा (**सेवितव्यः**) सेवन करनेके योग्य है।

भावार्थ—आत्मकल्याण करनेवाले प्राणियोंको ऐसे गुरुका सेवन करना चाहिये कि, जो मोक्षमार्गमें स्वयं चलै और दूसरोंको चलावै । तथा संसाररूपी समुद्रसे आप तरैं और दूसरोंको तारै ।

मालिनी ।

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति ।

अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित् ॥ १४ ॥

हरिगीतिका छन्द ।

मिथ्यात-दलन सिद्धांत साधन, मुकतिमारग जानिये ।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुण्य पाप बखानिये ॥
संसारसागरतरनतारन, गुरु जहाज विशेखिये ।
जगमाहिं गुरुसम कह बनारसि, और कोउ न देखिये ॥ १४ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (कुबोधम्) मिथ्याज्ञानको (विदलयति) दलन करता है, (आगमार्थम्) सिद्धान्त शास्त्रोंके अर्थको (बोधयत्ति) प्रकाशित करता है, (सुगतिकुगतिमार्गौ) स्वर्गादिक सुगति और नरकादिक दुर्गतिके मार्गरूप (पुण्यपापे) पुण्य और पापको (व्यनक्ति) प्रकट करता है, और (कृत्याकृत्यभेदम्) कृत्य अकृत्य अर्थात् करनेयोग्य और न करनेयोग्य कार्यके भेदको (अवगमयति) बतलाता है (तं (विना) उसके विना (कश्चित्) और कोई (भवजलनिधिपोतः) ससाररूपी समुद्रसे पार उतारनेके लिये जहाज (न अस्ति) नहीं है ।

शिखरिणी ।

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः
सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्वं परिकरः ।
निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं
गुरोर्धर्माधर्मप्रकटनपरात्कोऽपि न परः ॥ १५ ॥

मत्तगयन्द ।

मात पिता सुत बन्धु सखीजन, मीत हितू सुख कामिनि पीके ।
सेवक साज मतंगज बाज, महादल राज रथी रथ नीके ॥
दुर्गति जाय दुखी बिललाय, परै सिर आय अकेलहि जीके ।
पंथ कुपंथ गुरू समझावत, और सगे सब स्वारथहीके ॥ १५ ॥

अन्वयार्थौ—(नरककुहरे) नरकरूपी कुहरमें (निमज्जन्तम्) डूबते हुए (जन्तुम्) प्राणीको (धर्माधर्मप्रकटनपरात्) धर्म अधर्मके प्रगट करनेमें तत्पर ऐसे (गुरोः) गुरुसे (परः) भिन्न अर्थात् गुरुको छोड़कर अन्य (पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्वं परिकरः) पिता, माता, भाई, प्यारी सहचरी अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, स्वामी, मदोन्मत्त हाथी, योद्धा, रथ, घोड़े, और परिकार आदि (कः अपि) कोई भी (रक्षितुम्) रक्षा करनेको (अलम्) समर्थ (न) नहीं हैं ।

भावार्थ—नरकमें पड़ते हुए प्राणीको धर्म और अधर्मका स्वरूप समझा कर गुरु ही रक्षा कर सकते है और कोई नहीं ।

शार्दूलविक्रीडित ।

किं ध्यानेन भवत्वशेषविषयत्यागैस्तपोभिः कृतं
पूर्णं भावनयालमिन्द्रियजयैः पर्याप्तमाप्तागमैः ।
किं त्वेकं भवनाशनं कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासनं
सर्वे येन विना विनाथबलवत्स्वार्थाय नालं गुणाः॥१६

वस्तु छन्द ।

ध्यान धारन ध्यान धारन, विषैसुखत्याग ।
करुनारस आदरन, भूमिसैन इन्द्रीनिरोधन ॥

व्रत संजम दान तप, भगति भाव सिद्धांतसाधन।
ये सब काम न आवहीं, ज्यों विन नायक सैन।
शिवसुखहेतु बनारसी, कर प्रतीत गुरुवैन ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ—(ध्यानेन) ध्यान करनेसे (किम् भवति) क्या होता है? (अशेषविषयत्यागैः किं भवति) समस्त विषयोंके त्यागसे क्या होता है—उससे कुछ सिद्धि नही, (तपोभिः किं कृतम् भवति) तप करनेसे क्या होता है? (भावनया किं पूर्णम्) भावनाओंने भी क्या पूरा पडता है? और इसी प्रकार (इन्द्रियजयैः अलम्) इन्द्रियोंको जीतनेसे क्या? और (आप्तागमैः पर्याप्तम्) सर्वज्ञ प्रणीत आगमके अध्ययनसे क्या? अर्थात् केवल इनसे कुछ लाभ नहीं है (किन्तु) किंतु (एकं) एक (भवनाशनं) संसारके नाश करनेवाली (गुरोः शासनं) गुरुकी आज्ञाको (गुरुप्रीत्या) गाढ भक्तिसे (कुरु) पालन करो; (येन विना) जिसके विना (विनाथबलवत्) विना स्वामीकी सेनाके समान (सर्वे गुणाः) पूर्वोक्त ध्यानादिक समस्त-गुण (स्वार्थाय) अपने अपने फलकी सिद्धि करनेके लिये (नालम्) समर्थ नहीं है।

भावार्थ—जैसे नायकके विना सेना जय प्राप्त नही कर सकती, उसीप्रकार गुरुपरम्परासे प्राप्त किये विना ध्यानादिक सिद्धिके दाता नहीं होते।

जिनमताधिकार।

शिखरिणी।

न देवं नादेवं न शुभगुरुमेनं न कुगुरुं
न धर्मं नाधर्मं न गुणपरिणद्धं न विगुणम्।

न कृत्यं नाकृत्यं न हितमहितं नापि निपुणं
विलोकन्ते लोका जिनवचनचक्षुर्विरहिताः ॥ १७ ॥

कुंडलिया छन्द।

देव अदेव नहीं लखैं, सुगुरु कुगुरु नहिं सूझ।
धर्म अधर्म गनैं नहीं, कर्म अकर्म न बूझ॥
कर्म अकर्म न बूझ, गुण रु औगुण नहिं जानहिं।
हित अनहित नहिं सधैं, निपुणमूरख नहिं मानहिं॥
कहत बनारसि ज्ञानदृष्टि, नहिं अंध अचेवहिं।
जैनवचनदृगहीन, लखैं नहिं देव अदेवहिं॥ १७॥

अन्वयार्थौ—(जिनवचनचक्षुर्विरहिताः) जिनेन्द्रदेवके वचनरूपी चक्षुओंसे रहित (लोकाः) लोग (न) न (देवम्) देवको (विलोकन्ते) देखते हैं (न अदेवम्) न अदेवको, (न एनं शुभगुरुम्) न इन श्रेष्ठ गुरुको देखते है (न कुगुरुम्) न कुगुरुको, (न धर्मम्) न धर्मको देखते हैं (न अधर्मम्) न अधर्मको, (न गुणपरिणद्धम्) न गुणी देखते है (न विगुणम्) न निर्गुणको, (न कृत्यम्) न करनेयोग्य देखते है (न अकृत्यम्) न करनेके अयोग्य, (न हितम्) न हित देखते हैं, (न अहितम्) न अहित (अपि) और (न निपुणम्) न निपुणको देखते हैं, न मूर्खको।

भावार्थ—जो जिनमत धारण नहीं करते हैं, वे अपना हिताहित कुछ भी नहीं जान सकते।

शार्दूलविक्रीडित।

मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं व्यर्थं वृथा श्रोत्रयो-
र्निर्माणं गुणदोषभेदकलनां तेषामसंभाविनीम्।

दुर्वारं नरकान्धकूपपतनं मुक्तिं बुधा दुर्लभां
सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां नकर्णातिथिः ॥

कवित्त ।

ताकौ मनुज-जनम सब निष्फल, मन निष्फल निष्फल जुग कान।
गुण अर दोष विचार भेदविधि, ताहि महा दुर्लभ है ज्ञान ॥
ताकौ सुगम नरक दुख संकट, अगमपंथ पदवी निर्वान ।
जिनमतवचन दयारसगर्भित, जे न सुनत सिद्धांतवखान ॥ १८ ॥

अन्वयार्थौ—(येषाम्) जिन पुरुषोंके (दयारसमयः) दयारूपी रससे पूरित (सार्वज्ञः) सर्वज्ञदेवका कहा हुआ (समयः) शास्त्र (कर्णातिथिः) कर्णगोचर (न) नही हुआ है, (बुधाः) पण्डितलोग (तेषाम्) उनका (मानुष्यम्) मनुष्यजन्म (विफलम्) निष्फल (वदन्ति) कहते है, (तेषाम्) उनके (हृदयम्) हृदयको (व्यर्थम्) व्यर्थ (वदन्ति) वतलाते हैं, (श्रोत्रयोः निर्माणम्) उनके कर्णोंके बननेको (वृथा) व्यर्थ कहते हैं, (गुणदोषभेदकलनाम्) उनके गुण और दोषोंके भेद करनेका विचार (असम्भाविनीम्) असम्भव है । उनका (नरकान्धकूपपतनम्) नरकरूपी अन्धकूपमें पडना (दुर्वारम्) रुक नहीं सकता और उन्हें (मुक्तिम्) मोक्ष (दुर्लभाम्) अत्यन्त दुर्लभ है ।

पीयूषं विषवज्जलं ज्वलनवत्तेजस्तमःस्तोमव-
न्मित्रं शात्रववत्स्रजं भुजगवच्चिन्तामणिं लोष्ठवत् ।
ज्योत्स्नां ग्रीष्मजघर्मवत्स मनुते कारुण्यपण्यापणं
जैनेन्द्रं मतमन्यदर्शनसमं यो दुर्मतिर्मन्यते ॥ १९ ॥

षट्पद ।

अंमृतको विष कहैं, नीरको पावक मानहिं ।
तेज तिमिरसम गिनहिं, मित्रको शत्रु वखानहिं ॥
पहुपमाल कहिं नाग, रतन पत्थर सम तुल्लहिं ।
चंद्रकिरण आतपस्वरूप, इहि भांति जु भुल्लहिं ॥
करुणानिधान अमलान गुन, प्रगट वनारसि जैनमत ।
परमत समान जो मन धरत, सो अजान मूरख अपत ॥ १९ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (दुर्मतिः) मूर्ख पुरुष (कारुण्यपण्यापणम्) करुणाके निधान (जैनेन्द्रम् मतम्) जिनमतको (अन्यदर्शनसमम्) अन्यमतोंके समान (मन्यते) मानता है, (सः) वह पुरुष (पीयूषम्) अमृतको (विषवत्) विषके समान (मनुते) मानता है, (जलम्) जलको (ज्वलनवत्) अग्निके समान, (तेजः) तेजको (तमःस्तोमवत्) अन्धकारके समूहके समान, (मित्रम्) मित्रको (शात्रववत्) शत्रुके समान, (स्रजम्) मालाको (भुजगवत्) सर्पके समान, (चिन्तामणिम्) चिन्तामणि रत्नको (लोष्ठवत्) मिट्टीके ढेलेके समान और (ज्योत्स्नाम्) चन्द्रमाकी चांदनीको (ग्रीष्मजघर्मवत्) ग्रीष्मऋतुकी धूपके समान (मनुते) मानता है ।

धर्मं जागरयत्यघं विघटयत्युत्थापयत्युत्पथं
भिन्ते मत्सरमुच्छिनत्ति कुनयं मथ्नाति मिथ्यामतिम् ।
वैराग्यं वितनोति पुष्यति कृपां मुष्णाति तृष्णां च य-
त्तज्जैनं मतमर्चति प्रथयति ध्यायत्यधीते कृती ॥ २० ॥

मरहटा छन्द ।

शुभधर्म विकाशै, पाप विनाशै कुपथ उथप्पनहार ।
मिथ्यामत खंडै, कुनय विहंडै, मंडै दया अपार ॥
तृष्णा मद मारै, राग विडारै, यह जिनआगम सार ।
जो पूजै ध्यावै, पढ़ै पढावै, सो जगमाहिं उदार ॥ २० ॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो (धर्मम्) धर्मको (जागरयति) जगाता है, अर्थात् आत्मधर्मका प्रकाश करता है, (अघम्) पापको (विघटयति) विनाश करता है, (उत्पथम्) खोटेमार्गको (उत्थापयति) उठाता है, (मत्सरम्) ईर्षाको (भिन्ते) खंड खड करता है, (कुनयम्) मिथ्या एकान्त नयको (उच्छिनत्ति) उखाडकर फेंकता है, (मिथ्यामतिम्) मिथ्याज्ञानको (मथ्नाति) मिटाता है, (वैराग्यम्) वैराग्यको (वितनोति) वढ़ाता है, (कृपाम्) दयाको (पुष्णाति) पुष्ट करता है (च) और (तृष्णाम्) तृष्णाको (मुष्णाति) चुराता है, (तत् जैनं मतम्) उस जैनमतको (कृती) चतुर पुरुष (अर्चति) पूजते हैं, (प्रथयति) प्रसिद्ध करते हैं, (ध्यायति) ध्याते है, और (अधीते) पढ़ते हैं ।

संघाधिकार ।

रत्नानामिव रोहणक्षितिधरः खं तारकाणामिव
स्वर्गः कल्पमहीरुहामिव सरः पङ्केरुहाणामिव ।
पाथोधिः पयसामिवेन्दुमहसां स्थानं गुणानामसा-
वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः संघस्य पूजाविधिः ॥

कवित्त (३१ मात्रा) ।

जैसैं नभमंडल तारागण, रोहनशिखर रतनकी खान ।
ज्यौं सुरलोक भूरि कलपद्रुम, ज्यौं सरवर अंबुजवन जान ॥
ज्यौं समुद्र पूरन जलमंडित, ज्यौं शशिछविसमूह सुखदान ।
तैसैं संघ सकल गुणमन्दिर, सेवहु भावभगति मन आन ॥ २१ ॥

अन्वयार्थौ—(रत्नानां रोहणक्षितिधरः इव) जैसे रोहण-पर्वत रत्नोंका स्थान है, (तारकाणां खं इव) जैसे आकाश तारा-गणोंका स्थान है, (कल्पमहीरुहाणां स्वर्गः इव) जैसे स्वर्ग कल्पवृक्षोंका स्थान है, (पङ्केरुहाणाम् सरः इव) जैसे तालाव कमलोका स्थान है, और (पयसां पाथोधिः इव) जैसे समुद्र पानीका स्थान है, उसीप्रकारसे (असौ) यह चार प्रकारका संघ (इन्दुमहसां गुणानां) चन्द्रमाके समान उज्ज्वल गुणोंका (स्थानं) स्थान है; (इत्यालोच्य) ऐसा विचार करके (भगवतः संघस्य) ऐश्वर्यशाली संघकी (पूजाविधिः) पूजा विधि (विरच्यते) की जाती है ।

यः संसारनिरासलालसमतिर्मुक्त्यर्थमुत्तिष्ठते
यं तीर्थं कथयन्ति पावनतया येनास्ति नान्यः समः ।
यस्मै स्वर्गपतिर्नमस्यति सतां यस्माच्छुभं जायते
स्फूर्तिर्यस्य परा वसन्ति च गुणा यस्मिन्स संघोऽर्च्यताम्

जो संसार-भोग-आशा तज, ठानत मुकति पंथकी दौर ।
जाकी सेव करत सुख उपजत, जिहि समान उत्तम नहिं और ॥
इन्द्रादिक जाके पद वंदत, जो जंगम तीरथ शुचि ठौर ।
जामैं नित निवास गुन मंडन, सो श्रीसंघ जगत शिरमौर ॥ २२ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (संसारनिरासलालसमतिः सन्) जन्ममरणरूप ससारके नाश करनेकी लालसा करता हुआ (मुक्त्यर्थम्) मोक्ष जानेके लिये (उत्तिष्ठते) उद्यत होता है, उसे (सः संघः अर्च्यताम्) वह सघ पूजना चाहिये (यम्) जिसको (पावनतया) पवित्रताके कारण (तीर्थम्) तीर्थ अर्थात् ससारसे तिरनेका कारण (कथयन्ति) कहते है, (येन) जिसके (समः) समान (अन्यः) और (न अस्ति) कुछ नहीं है, (यस्मै) जिसके लिये (स्वर्गपतिः) इन्द्र भी (नमस्यति) नमस्कार करता है, (यस्मात्) जिससे (सताम्) सज्जनोंका (शुभम्) कल्याण (जायते) होता है, (यस्य) जिसकी (परा) उत्कृष्ट (स्फूर्त्तिः) दीप्ति है, (च) और (यस्मिन्) जिसमे (गुणाः) अनेक गुण (वसन्ति) निवास करते हैं।

लक्ष्मीस्तं स्वयमभ्युपैति रभसात्कीर्तिस्तमालिङ्गति
प्रीतिस्तं भजते मतिः प्रयतते तं लब्धुमुत्कण्ठया ।
स्वःश्रीस्तं परिरब्धुमिच्छति मुहुर्मुक्तिस्तमालोकते
यः संघं गुणसंघकेलिसदनं श्रेयोरुचिः सेवते ॥ २३ ॥

ताको आय मिलै सुखसंपति, कीरति रहै तिहूं जग छाय ।
जिनसों प्रीति वढै ताके घट, दिन दिन धर्मबुद्धि अधिकाय ॥
छिनछिन ताहि लखै शिवसुन्दरि, सुरगसंपदा मिलै सुभाय ।
बानारसि गुनरासि संघकी, जो नर भगति करै मन लाय ॥२३॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (श्रेयोरुचिः) अपना कल्याण

चाहनेवाला पुरुष (गुणसंघकेलिसदनम्) गुणसमुदायके क्रीड़ा करनेके स्थानभूत (संघम्) संघका (सेवते) सेवन करता है, (तम्) उस पुरुषके समीप (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (स्वयम्) अपने आप (अभ्युपैति) आकर उपस्थित हो जाती है, (कीर्त्तिः) कीर्त्ति (तम्) उस पुरुषको (रभसात्) बड़ी शीघ्रतासे (आलिङ्गति) आलिंगन करती है, (प्रीतिः) प्रीति (तम्) उसका (भजते) सेवन करती है, (मतिः) बुद्धि (तम्) उसके (लब्धुम् उत्कण्ठया) मिलनेकी उत्कंठासे (प्रयतते) प्रयत्न करती है, (स्वः श्रीः) स्वर्गकी लक्ष्मी (तम् परिरब्धुम्) उससे रमण करनेकी (इच्छति) इच्छा करती है और (मुक्तिः) मुक्ति (तम्) उसको (मुहुः) वारंवार (आलोकते) देखती है ।

यद्भक्तेः फलमर्हदादिपदवीमुख्यं कृषेः सस्यव-
च्चक्रित्वत्रिदशेन्द्रतादि तृणवत्प्रासङ्गिकं गीयते ।
शक्तिं यन्महिमस्तुतौ न दधते वाचोऽपि वाचस्पतेः
संघः सोऽघहरः पुनातु चरणन्यासैः सतां मन्दिरम् ॥

जाके भजत मुकतिपदपावत, इन्द्रादिक पद गिनत न कोय ।
ज्यों कृषि करत धानफल उपजत, सहज पँयार घास भुस होय ॥
जाके गुन जस जंपन कारन, सुरगुरु थकित होत मदखोय ।
सो श्रीसंघ पुनीत बनारसि, दुरित-हरन विचरत भुविलोय ॥२४॥

अन्वयार्थौ—(कृषेः सस्यवत्) जैसे खेतीका मुख्य फल धान्य वा अनाज होना है, उसी तरह (यद्भक्तेः फलम्) संघकी भक्ति करनेका फल (अर्हदादिपदवीमुख्यम्) अरहंत सिद्ध आदिक मुख्य मुख्य पदवियोंका प्राप्त होना है; (चक्रित्वत्रिद-

शेन्द्रतादि) चक्रवर्त्ती इन्द्र आदिक पदविया (तृणवत्) भूसाके समान (प्रासङ्गिकम्) प्रासगिक (गीयते) गिनी जाती है। (यन्महिमस्तुतौ) और जिसकी महिमाकी स्तुति करनेमें (वाचस्पतेः) बृहस्पतिके (वाचः अपि) वचन भी (शक्तिम्) शक्ति (न) नहीं (दधते) रखते है, (सः) ऐसा (अघहरः) पापका नाश करनेवाला (संघ) सघ (सताम्) सज्जनोंके-(मन्दिरम्) घरोंको (चरणन्यासैः) अपने चरणोंसे (पुनातु) पवित्र करो।

भावार्थ—खेती करनेका मुख्य फल धान्य उत्पन्न होना है, धान्यके साथ घास भूसा आदिक तो स्वय उत्पन्न हो जाते हैं, इसी तरह संघकी भक्ति करनेसे अरहंतादि पदविया मिलती है। रही इन्द्र चक्रवर्त्ती आदिककी पदवियां सो प्रसगानुसार स्वयं मिल जाती है। अभिप्राय यह कि—सघकी भक्ति करनेवाला इन्द्र चक्रवर्त्ती आदिके सुख भोगता हुआ मोक्षको प्राप्त होता है।

अहिंसा अधिकार।

क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजःसंहारवात्या भवो-
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली संकेतदूती श्रियाम्।
निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परैः॥ २५॥

घनाक्षरी।

सुकृतकी खान इन्द्रपुरीकी नसैनी जान,
पापरजखंडनको पौनरासि पेखिए।

भवदुखपावक बुझाइवेको मेघमाला,
कमला मिलाइवेको दूती ज्यौं विशेखिए ॥
सुगति वधूसों प्रीति पालिवेको आलीसम,
कुगतिके द्वार दृढ़ आगलसी देखिए ।
ऐसी दया कीजै चित तिहूँलोकप्राणीहित,
और करतूत काहू लेखेमें न लेखिए ॥ २५ ॥

अन्वयार्थौ—जो (सुकृतस्य) पुण्यके (क्रीडाभूः) क्रीड़ा करनेका स्थान है, (दुष्कृतरजःसंहारवात्या) पापरूपी धूलके उड़ानेके लिये ऑधी है, (भवोदन्वन्नौः) ससाररूपी समुद्रसे तिरनेके लिये नौका है, (व्यसनाग्निमेघपटली) व्यसनरूपी अग्निके बुझानेके लिये मेघमाला है, (श्रियाम्) सम्पदारूपी स्त्रियोंसे मिलाप करानेवाली (सङ्केतदूती) संकेत दूती है, (त्रिदिवौकसः निःश्रेणिः) स्वर्गके चढनेके लिये नसैनी है, (मुक्तेः प्रियसखी) मुक्तिकी प्यारी सखी है और (कुगत्यर्गला) नरकादिक दुर्गतियोंके रोकनेके लिये अर्गल है, (सत्त्वेषु) प्राणियोंपर, ऐसी (कृपा एव) एक दया ही (क्रियताम्) करनी चाहिये (परैः) और (अशेषैः) सारे (क्लेशैः) क्लेशोंसे (भवतु) क्या होता है ? भाव यह कि, दया ही प्रधान धर्म है । विना दयाके अन्य व्रतादि क्लेशमात्र है ।

शिखरिणी ।

यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयते
प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि ।

यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः
प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम् ॥

अभानक छन्द ।

जो पश्चिम रवि उगै, तिरै पापान जल ।
जो उलटै भुवि लोक, होय शीतल अनल ॥
जो मेरू डगमगै, सिद्धकहँ होय मल ।
तब हू हिंसा करत, न उपजत पुण्यफल ॥ २६ ॥

अन्वयार्थौ—(यदि) यदि (तोये) जलमें (ग्रावा) पापाण (तरति) तिर जावै, (यदि) यदि (तरणिः) सूर्य (प्रतीच्याम्) पश्चिमदिशामें (उदयते) उदय हो जाय, (यदि) यदि (सप्तार्चिः) अग्नि (कथम् अपि) किसी तरह (शैत्यम्) शीतल (भजति) हो जाय, (यदि) यदि (क्ष्मापीठम्) पृथ्वीतल (सकलस्य) समस्त (जगतः अपि) जगतके भी (उपरि) ऊपर (स्यात्) हो जाय, अर्थात् पृथ्वी लौट जाय (तदपि) तौ भी (सत्त्वानाम्) प्राणियोंका (वधः) वध करना (क्व अपि) किसी भी विपयमें (सुकृतम्) पुण्य (न प्रसूते) उत्पन्न नहीं कर सकता ।

भावार्थ—ससारके सारे विरुद्ध कार्य भले ही हो जॉय, परंतु हिंसासे पुण्य उत्पन्न नही हो सकता ।

मालिनी ।

स कमलवनमग्नेर्वासरं भास्वदस्ता-
दमृतमुरगवक्त्रात्साधुवादं विवादात् ।

रुगपगममजीर्णाज्जीवितं कालकूटा-
दभिलषति वधाद्यः प्राणिनां धर्ममिच्छेत् ॥ २७ ॥

घनाक्षरी छन्द ।

अगनिमें जेसें अरविंद न विलोकियत,
सूर अथवत जैसें वासर न मानिए ।
सांपके वदन जैसें अमृत न उपजत,
कालकूट खाए जैसें जीवन न जानिए ॥

कलह करत नाँहि पाइए सुजस जैसें,
वाढ़त रसांस रोग नाश न वखानिए ।
प्राणीवधमाहिं तैसें धर्मकी निशानी नांहि,
याहीतैं वनारसी विवेक मन आनिए ॥ २७ ॥

अन्वयार्थौ—(**यः**) जो पुरुष (**प्राणिनाम्**) प्राणियोंके (**वधात्**) घातकरनेसे (**धर्मम्**) धर्मकी (**इच्छेत्**) इच्छा करता है, (**सः**) वह पुरुष (**अग्नेः**) अग्निसे (**कमलवनम्**) कमलके वनके उत्पन्न होनेकी, (**भास्वदस्तात्**) सूर्यके अस्त होनेसे (**वासरम्**) प्रभात होनेकी, (**उरगवक्त्रात्**) सर्पके मुखसे (**अमृतम्**) अमृतकी, (**विवादात्**) विवादसे (**साधुवादम्**) अच्छे और यशस्वी वचनोंकी, (**अजीर्णात्**) अजीर्ण अर्थात् अपचसे (**रुगपगमम्**) रोग दूर होनेकी और (**कालकूटात्**) विषसे (**जीवितम्**) जीवित रहनेकी (**अभिलषति**) अभिलाषा करता है ।

शार्दूलविक्रीडित ।

आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरं
वित्तं भूरितरं बलं बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्तरम् ।

आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगति श्लाघ्यत्वमल्पेतरं
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपार्द्रान्तरम् ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

दीरघ आयु नाम कुल उत्तम, गुण संपति आनंदनिवास।
उन्नति विभव सुगम भवसागर, तीन भुवन महिमा परकास ॥
भुजवलवंत अनंतरूप छवि, रोगरहित नित भोगविलास।
जिनके चित्त दयाल तिन्हींके, सब सुख होहिं बनारसिदास ॥

अन्वयार्थौ—(कृपार्द्रान्तरम्) दयासे भीगा हुआ (चेतः) चित्त (आयुः) आयुको (दीर्घतरम् करोति) बढ़ाता है, (वपुः) शरीरको (वरतरम्) श्रेष्ठ (करोति) करता है, (गोत्रम्) गोत्रको (गरीयस्तरम्) उत्तम (करोति) करता है, (वित्तम्) धनको (भूरितरम् करोति) बहुत करता है, (बलम्) बलको (बहुतरम् करोति) बढ़ाता है, (स्वामित्वम्) स्वामीपनेको (उच्चैस्तरम् करोति) ऊचा करता है अर्थात् स्वामित्वका ऊंचा पद देता है, (आरोग्यम्) नीरोगताको (विगतान्तरम् करोति) व्यवधानरहित करता है, अर्थात् हमेशा निरोगता रहती है, (त्रिजगति) तीनों जगतमें (अल्पेतरम्) बहुत (श्लाध्यत्वम्) प्रशंसा (करोति) करता है और (संसाराम्बुनिधिम्) ससाररूपी समुद्रको (सुतरम्) सहजरीतिसे तिरने योग्य (करोति) करता है।

सत्यवचन अधिकार।

विश्वासायतनं विपत्तिदलनं देवैः कृताराधनं
मुक्तेः पथ्यदनं जलाग्निशमनं व्याघ्रोरगस्तम्भनम्

श्रेयःसंवननं समृद्धिजननं सौजन्यसंजीवनं
कीर्त्तेः केलिवनं प्रभावभवनं सत्यं वचः पावनम् ॥२९॥

पट्पद ।

गुणनिवास विश्वास वास, दारिद्दुखखंडन ।
देवअराधन योग, मुकतिमारग, मुखमंडन ॥
सुयशकेलि-आराम, धाम सज्जन मनरंजन ।
नागवाघवशकरन, नीर-पावक-भयभंजन ॥
महिमा निधान सम्पतिसदन, मंगल मीत पुनीत मग ।
सुखरासि बनारसिदास भन, सत्यवचन जयवंत जग ॥ २९ ॥

अन्वयार्थौ—(सत्यम् वचः) सत्यवचन (विश्वासायतनम्) विश्वासका घर है, (विपत्तिदलनम्) विपत्तियोंको दूर करनेवाला है, (देवैः कृताराधनम्) देवोंसे भी पूजित है, (मुक्तेः पथि अदनम्) मुक्तिके मार्गमे कलेवा है, (जलाग्निशमनम्) जल और अग्निको शान्त करनेवाला है, (व्याघ्रोरगस्तम्भनम्) सिंह सर्पादिकोंको स्तंभन करनेवाला है, (श्रेयःसंवननम्) कल्याणोंको वश करनेवाला है, (समृद्धिजननम्) ऋद्धियोंको उत्पन्न करनेवाला है, (सौजन्यसंजीवनम्) सुजनताको जीवन देनेवाला है, (कीर्त्तेः केलिवनम्) कीर्त्तिके क्रीड़ा करनेका बगीचा है, (प्रभावभवनम्) प्रभावका मन्दिर है और (पावनम्) पवित्र है ।

शिखरिणी ।

यशो यस्माद्भस्मीभवति वनवह्नेरिव वनं
निदानं दुःखानां यदवनिरुहाणां जलमिव ।
न यत्र स्याच्छायाऽऽतप इव तपःसंयमकथा
कथंचित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान् ॥ ३० ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

जो भसंत करै निज कीरति, ज्यों वनअग्नि दहै वन सोय।
जाके सँग अनेक दुख उपजत, बढ़ै वृक्ष ज्यौं सींचत तोय॥
जामैं धरमकथा नहिं सुनियत, ज्यौं रविबीच छांहिं नहिं होय।
सो मिथ्यात्व वचन बानारसि, गहत न ताहि विचक्षण कोय ३०

अन्वयार्थौ—(यस्मात्) जिस मिथ्यावचनसे (वनवह्नेः) दावानल अग्निसे (वनम् इव) वनके समान (यशः) यश (भस्मीभवति) भस्म हो जाता है, (यत्) जो (अवनिरुहाणाम्) वृक्षोंको (जलम् इव) जलके समान (दुःखानाम्) दु:खोंका (निदानम्) कारण है, अर्थात् जिस तरह जलसे वृक्ष उत्पन्न होते है, उसी तरह झूठसे दुःख होते है (यत्र) और जिसमें (आतपे) धूपमें (छाया इव) छायाके समान (तपः संयमकथा) तप सयम आदिकी कथा (न) नही (स्यात्) हो सकती, (तन्मिथ्यावचनम्) ऐसे मिथ्यावचनको (मतिमान्) बुद्धिमान् पुरुष (कथंचित्) किसी तरह (न अभिधत्ते) धारण नहीं करते, अर्थात् बुद्धिमान् झूठ नहीं बोलते।

वंशस्थविलम्।

असत्यमप्रत्ययमूलकारणं कुवासनासद्म समृद्धिवारणम्।
विपन्निदानं परवञ्चनोर्जितं कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम्॥

रोड़क छन्द।

कुमति कुरीत निवास, प्रीत परतीत निवारन।
रिद्धिसिद्धिसुखहरन, विपत-दारिद-दुखकारन॥

परवंचन उतपत्ति, सहज अपराध कुलच्छन ।
सो यह मिथ्यावचन, नांहिं आदरत विचच्छन ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थौ—(अप्रत्ययमूलकारणम्) अविश्वासका मूलकारण, (कुवासनासद्म) बुरी वासनाओंका घर, (समृद्धिवारणम्) सम्पत्तिका रोकनेवाला, (विपन्निदानम्) विपत्तियोंका कारण, (परवञ्चनोर्जितम्) दूसरोंको ठगनेके लिये किया जानेवाला, और (कृतापराधम्) अनेक अपराधोंका करानेवाला (असत्यम्) मिथ्यावचन (कृतिभिः) धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा (विवर्जितम्) वर्जित है । अर्थात् ऐसे वचनको धर्मात्मा कभी नहीं बोलते ।

शार्दूलविक्रीडित ।

तस्याग्निर्जलमर्णवः स्थलमरिर्मित्रं सुराः किङ्कराः
कान्तारं नगरं गिरिर्गृहमहिर्माल्यं मृगारिर्मृगः ।
पातालं बिलमस्त्रमुत्पलदलं व्यालः शृगालो विषं
पीयूषं विषमं समं च वचनं सत्याञ्चितं वक्ति यः ॥३२॥

घनाक्षरी ।

पावकतैं जल होय वारिधतैं थल होय,
शस्त्रतैं कमल होय ग्राम होय वनतैं ।
कूपतैं विवर होय पर्वततैं घर होय,
वासवतैं दास होय हितू दुरजनतैं ॥
सिंघतैं कुरंग होय व्याल स्यालअङ्ग होय,
विषतैं पियूष होय माला अहिफनतैं ।
विषमतैं सम होय संकट न व्यापै कोय,
एते गुन होंय सत्यवादीके दरसतैं ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो पुरुष (सत्याञ्चितम्) सत्य

(वचनम्) वचन (वक्ति) बोलता है, (तस्य) उसको (अग्निः) अग्नि (जलम्) जल ('भवति') हो जाती है और (अर्णवः) समुद्र (स्थलम्) स्थल हो जाता है। (अरिः) शत्रु (मित्रम्) मित्र, (सुराः) देवता (किङ्कराः) किङ्कर, (कान्तारम्) वन, (नगरम्) नगर, (गिरिः) पर्वत (गृहम्) घर, (अहिः) सर्प (माल्यम्) माला, (मृगारिः) सिंह (मृगः) हरिण, (पातालम्) पाताल (बिलम्) बिल, (अस्त्रम्) शस्त्र (उत्पलदलम्) कमलके दल, (व्यालः) दुष्ट हाथी (शृगालः) शृगाल, (विषम्) विष (पीयूषम्) अमृत (च) और (विषमम्) विषम (समम्) सम हो जाते हैं।

भावार्थ—सत्य बोलनेवालेको जितने दुःख देनेवाले पदार्थ हैं, वे सब सुख देनेवाले हो जाते हैं।

अदत्तादान अधिकार।

मालिनी।

तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धि-
स्तमभिसरति कीर्तिर्मुञ्चते तं भवार्तिः।
स्पृहयति सुगतिस्तं नेक्षते दुर्गतिस्तं
परिहरति विपत्तं यो न गृह्णात्यदत्तम्॥ ३२॥

रोड़क छन्द।

ताहि रिद्धि अनुसरै, सिद्धि अभिलाष धरै मन।
विपति संग परिहरै, जगत विस्तरै सुजस धन॥
भवआरति तिहिं तजै, कुगति वंछै न एक छन।
सो सुरसम्पति लहै, गहै नहिं जो अदत्त धन॥ ३२॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो पुरुष (अदत्तम्) विना दी हुई वस्तु (न गृह्णाति) ग्रहण नही करता है, (सिद्धिः) सिद्धि (तम्) उस पुरुषकी (अभिलषति) अभिलाषा करती है, (समृद्धिः) समृद्धि (तम्) उसको (वृणीते) स्वीकार करती है, (कीर्त्तिः) कीर्त्ति (तम् अभिसरति) गुप्तरूपसे उसके समीप आती है, (भवार्त्तिः) ससारके दुःख (तम्) उसको (मुञ्चते) छोड़ जाते हैं, (सुगतिः) स्वर्गादिक उत्तम गति (तम्) उसकी (स्पृहयति) स्पृहा करती है, (दुर्गतिः) नरकादिक दुर्गति (तम्) उसको (न ईक्षते) देखती ही नहीं है और (विपत्) विपत्ति (तम्) उसको (परिहरति) छोड़ देती है ।

शिखरिणी ।

अदत्तं नादत्ते कृतसुकृतकामः किमपि यः
शुभश्रेणिस्तस्मिन्वसति कलहंसीव कमले ।
विपत्तस्माद्दूरं व्रजति रजनीवाम्बरमणे-
र्विनीतं विद्येव त्रिदिवशिवलक्ष्मीर्भजति तम् ॥३४॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

ताको मिलै देवपद शिवपद, ज्यौं विद्याधन लहै विनीत ।
तामैं आय रहैं शुभ सम्पति, ज्यौं कलहंस कमलसौं मीत ॥
ताहि विलोक दुरै दुख दारिद, ज्यौं रवि आगम रैन विदीत ।
जो अदत्त धन तजत बनारसि, पुण्यवंत सो पुरुष पुनीत ॥३४॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (कृतसुकृतकामः) पुण्योपार्जनकी इच्छा करनेवाला पुरुष (किमपि) कुछ भी (अदत्तम्) विना

दी हुई वस्तु (न आदत्ते) ग्रहण नही करता (तस्मिन्) उसमें,— (कमले) कमलमें (कलहंसी इव) सुन्दर हंसिनीके समान (शुभश्रेणिः) शुभ सम्पतियां (वसति) निवास करती है, (तस्मात्) उससे (अम्बरमणेः) सूर्यसे (रजनी इव) रात्रिके समान (विपत्) विपत्तियां (दूरम्) दूर (व्रजति) भागती है, (तम्) और उस (विनीतम्) नम्रीभूत पुरुषको (विद्या इव) विद्याके समान (त्रिदिवशिवलक्ष्मीः) स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मी (भजति) प्राप्त होती है ।

भावार्थ—जिस तरह कमलमें हंसिनी रहती है, उसतरह चोरीके त्यागीके सारी सम्पत्तियां रहती है । जिस तरह सूर्यसे रात भागती है, उस तरह चोरीके त्यागीसे विपत्तियां दूर भागती है और जिस तरह विनयवान् पुरुषको विद्या शीघ्र प्राप्त होती है, उसी तरह अचौर्यव्रतीको स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ।

शार्दूलविक्रीडित ।

यन्निर्वर्तितकीर्तिधर्मनिधनं सर्वागसां साधनं
प्रोन्मीलद्वधबन्धनं विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनम् ।
दौर्गत्यैकनिबन्धनं कृतसुगत्याश्लेषसंरोधनं
प्रोत्सर्पत्प्रधनं जिघृक्षति न तद्धीमानदत्तं धनम् ३५

मरहटा छन्द ।

जो कीरति गोपहि, धरम विलोपहि, करहि महाअपराध ।
जो शुभगति तोरहि, दुरगति लोरहि, जोरहि युद्ध उपाध ॥
जो संकट आनहि, दुर्गति ठानहि, वधबंधनको गेह ।
सब औगुणमंडित, गहै न पंडित, धन अदत्तसो येह ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो विना दिया हुआ धन (निर्वर्त्तितकीर्त्तिधर्मनिधनम्) पूर्वोपार्जित कीर्त्ति और धर्मका नाश करनेवाला है, (सर्वागसाम्) समस्त पापोंका (साधनम्) कारण है, (प्रोन्मीलद्वधवन्धनम्) वधबंधनको प्रगट रूपसे करनेवाला है, (विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनम्) अनेक क्लेशोंको देनेवाला है, (दौर्गत्यैकनिबन्धनम्) दुर्गतियोंका मुख्य कारण है, (कृतसुगत्याश्लेषसंरोधनम्) सुगतियोंको दृढ़तापूर्वक रोकनेवाला है, और जो (प्रोत्सर्पत्प्रधनम्) युद्ध करानेवाला है, (तत्) ऐसे (अदत्तम्) विना दिये हुए (धनम्) धनको (धीमान्) बुद्धिमान् पुरुष (न जिघृक्षति) ग्रहण करनेकी इच्छा कभी नही करते है।

हरिणी।

परजनमनःपीडाक्रीडावनं वधभावना-
भवनमवनिव्यापिव्यापल्लताघनमण्डलम्।
कुगतिगमने मार्गः स्वर्गापवर्गपुरार्गलं
नियतमनुपादेयं स्तेयं नृणां हितकाङ्क्षिणाम्॥ ३६॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

जो परजन-संताप-केलिवन, जो वध बंध कुबुद्धि निवास।
जो जग विपतिवेलघनमंडल, जो दुर्गति-मारग-परकास॥
जो सुरलोकद्वार दृढ आगल, जो अपहरण मुक्तिसुखवास।
सो अदत्त धन तजत साधु जन, निजहितहेत बनारसिदास॥३६॥

अन्वयार्थौ—(परजनमनःपीडाक्रीडावनम्) जो दूसरोंकी मानसिक पीड़ाकी क्रीड़ास्थान है, (वधभावनाभव-

नम्) हिंसा करनेकी भावनाओंका घर है, (अवनिव्यापि-व्यापल्लताघनमण्डलम्) समस्त भूमंडलपर फैलनेवाली विपत्ति-रूप लताओंके लिये मेघमंडल है, (कुगतिगमने) कुगतिमें जानेके लिये (मार्गः) मार्ग है, (स्वर्गापवर्गपुरार्गलम्) और स्वर्ग और मोक्षके मार्गको रोकनेके लिये अर्गल है ऐसा (स्तेयम्) चौर्यकर्म (हितकांक्षिणाम्) अपना कल्याण चाहनेवाले (नृणाम्) मनुष्योंको (नियतम्) अवश्य ही (अनु-पादेयम्) छोड़ देने योग्य है ।

शीलाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ३७

कवित्त (३१ मात्रा) ।

सो अपयशको डंक बजावत, लावत कुल कलंक परधान ।
सो चारितको देत जलांजुलि, गुन-वनको दावानल दान ॥
सो शिवपथ किवार बनावत, आपति-विपति मिलनको थान ।
चिन्तामणिसमान जग जो नर, शील रतन निज करत मलान ३७

अन्वयार्थौ—(येन) जिस पुरुषने (त्रैलोक्यचिन्ताम-णिः) तीनों लोकोंकी वस्तुओंको प्राप्त करा देनेवाले चिन्तामणि रत्नके समान (निजम्) अपना (अखिलम्) समस्त (शीलम्) शीलव्रत (विलुप्तम्) खो दिया (तेन) उसने (जगति)

संसारमें (अकीर्त्तिपटहः) अपयशका डंका (दत्तः) बजा दिया, (गोत्रे) गोत्रमें (मषीकूर्चकः) स्याहीका धब्बा अर्थात् कलंक लगा लिया, (चारित्रस्य) चारित्रको (जलाञ्जलिः) जलांजलि दे दी, (गुणगणारामस्य) अनेक गुणोंके बगीचेमें (दावानलः) दावानल अग्नि लगा दी, (सकलापदाम्) समस्त विपत्तियोंको आनेके लिये (सङ्केतः) सकेत स्थान बना दिया और (शिवपुरद्वारे) मोक्षरूपी नगरके दरवाजेमें (दृढः) मजबूत (कपाटः) किवाड़ लगा दिये।

हरति कुलकलङ्कं लुम्पते पापपङ्कं
सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति।
नमयति सुरवर्गं हन्ति दुर्गोपसर्गं
रचयति शुचि शीलं स्वर्गमोक्षौ सलीलम्॥ ३८॥

रोडक छन्द।

कुल कलंक दलमलहि, पाप मल पंक पखारहि।
दारुन संकट हरहि, जगत महिमा विस्तारहि॥
सुरग मुकति पद रचहि, सुकृत संचहि करुणारसि।
सुरगन बंदहिं चरन, शीलगुण कहत बनारसि॥ ३८॥

अन्वयार्थौ—(शुचि) पवित्र (शीलम्) शीलव्रत (कुलकलङ्कम्) कुलमें लगे हुए कलंकोंको (हरति) हरण कर लेता है, (पापपङ्कम्) पापरूपी कीचड़का (लुम्पते) लोप कर देता है, (सुकृतम्) पुण्य (उपचिनोति) संचय करता है, (श्लाघ्यताम्) महिमा (आतनोति) बढाता है, (सुरवर्गम्) देवताओंके समूहसे अपने प्रति (नमयति) नमस्कार कराता है,

(दुर्गोपसर्गम्) घोर सकटोंका (हन्ति) नाश करता है और (स्वर्गमोक्षौ) स्वर्ग और मोक्षकी (सलीलम्) लीलामात्रमें (रचयति) रचना कर देता है।

शार्दूलविक्रीडित।

व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयं
कल्याणानि समुल्लसन्ति विबुधाः सान्निध्यमध्यासते।
कीर्तिः स्फूर्तिमियर्ति यात्युपचयं धर्मः प्रणश्यत्यघं
स्वर्निर्वाणसुखानि संनिदधते ये शीलमाबिभ्रते॥ ३९॥

मत्तगयन्द।

ताहि न बाघ भुजंगमको भय, पानि न बोरै न पावक जालै।
ताके समीप रहैं सुर किन्नर, सो शुभ रीत करै अघ टालै॥
तासु विवेक बढ़ै घट अतर, सो सुरके शिवके सुख भालै।
ताकी सुकीरति होय तिहूँ जग, जो नर शील अखंडित पालै॥ ३९॥

अन्वयार्थौ—(ये) जो पुरुष (शीलम्) शीलव्रतको (आबिभ्रते) धारण करते है, (तेषाम्) उनकी (व्याघ्रव्याल-जलानलादिविपदः) व्याघ्र सर्प जल अग्नि आदिकसे होनेवाली विपत्तिया (क्षयम्) नष्ट (व्रजन्ति) हो जाती है, (कल्याणानि) उनके आनन्दमंगल (समुल्लसन्ति) सदा बने रहते है, (विबुधाः) देवता उनके (सान्निध्यम्) समीप ही (अध्यासते) रहते है, (कीर्त्तिः) कीर्ति (स्फूर्त्तिम् इयर्त्ति) स्फुरायमान रहती है, (धर्मः) धर्म (उपचयम् याति) बढ़ता ही जाता है, (अघम्) पापोंका (प्रणश्यति) नाश हो जाता

है, और (स्वर्निर्वाणसुखानि) स्वर्ग तथा मोक्षके सुख (संनिदधते) अति समीप आ उपस्थित हो जाते हैं।

तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारङ्गति
व्यालोपि श्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति।
विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपां-
नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां शीलप्रभावाद्ध्रुवम् ४०

छप्पय।

अग्नि नीरसम होय, मालसम होय भुजंगम।
नाहर मृगसम होय, कुटिल गज होय तुरंगम॥
विष पियूषसम होय, शिखर पाषानखंड मितु।
विघन उलट आनंद, होय रिपु पलट होय हितु॥
लीलातलाव सम उदधिजल, गृहसमान अटवी विकट।
इहिविधि अनेक दुख होहिं सुख, शीलवंत नरके निकट॥ ४०॥

अन्वयार्थौ—(शीलप्रभावात्) शीलव्रतके प्रभावसे (ध्रुवम्) निश्चयसे (नृणाम्) मनुष्योंको (अग्निः अपि) अग्नि भी (तोयति) जलके समान हो जाती है, (अहिः अपि) सर्प भी (स्रजति) मालाके समान हो जाता है, (व्याघ्रः अपि) व्याघ्र भी (सारङ्गति) हरिणके समान हो जाता है, (व्यालः अपि) दुष्ट हिंसकपशु भी (श्वति) कुत्तेके समान हो जाता है, (पर्वतः अपि) पर्वत भी (उपलति) पाषाणके समान हो जाता है, (क्ष्वेडः अपि) विष भी (पीयूषति) अमृतके समान हो जाता है, (विघ्नः अपि) विघ्न भी (उत्सवति) उत्सवके समान हो जाते है, (अरिः अपि) शत्रु भी (प्रियति) मित्रके

समान हो जाता है, (अपां नाथः अपि) समुद्र भी (क्रीडा-तडागति) क्रीडा करनेके सरोवरके समान हो जाता है और (अटवी अपि) वन भी (स्वगृहति) अपने घरके समान हो जाता है।

परिग्रहाधिकार।

कालुष्यं जनयन् जडस्य रचयन्धर्मद्रुमोन्मूलनं
क्लिश्नन्नीतिकृपाक्षमाकमलिनीं लोभाम्बुधिं वर्द्धयन्।
मर्यादातटमुद्रुजञ्छुभमनोहंसप्रवासं दिश-
न्किं न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिं गतः ॥४१॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

अंतर मलिन होय निज जीवन, विनसै धर्मतरोवरमूल।
किलसै दयानीतिनलिनीवन, धरै लोभ सागर तन थूल॥
उठै वाद मरजाद मिटै सब, सुजन हंस नहिं पावहिं कूल।
बढ़त पूर पूरै दुख संकट, यह परिग्रह सरितासम तूल॥ ४१॥

अन्वयार्थौ—(जडस्य) मूर्खोंको वा जलको (कालुष्यम्) कलुषित (जनयन्) करता हुआ, (धर्मद्रुमोन्मूलनम् रचयन्) धर्मरूपी वृक्षको मूलसे उखाडता हुआ, (नीतिकृपाक्षमाकमलिनीम्) नीति कृपा क्षमारूपी कमलिनियोंको (क्लिश्नन्) क्लेश पहुंचाता हुआ, (लोभाम्बुधिम्) लोभरूपी समुद्रको (वर्द्धयन्) बढ़ाता हुआ, (मर्यादातटम्) मर्यादारूपी किनारेको (उद्रुजन्) उखाडता हुआ, (शुभमनोहंसप्रवासम्) सज्जनरूपी हंसोंको प्रवास करनेका (दिशन्) उपदेश देता हुआ अर्थात् उन्हें उड़ाता हुआ और (प्रवृद्धिम् गतः) नित्य बढ़ता हुआ जो

(परिग्रहनदीपूरः) परिग्रहरूपी नदीका पूर है, सो (किम्) क्या (क्लेशकरः) क्लेशोंका करनेवाला (न) नहीं है ?

भावार्थ—जैसे नदीका पूर अनेक दुःखोंको देनेवाला है, उसी तरह परिग्रह भी अनेक दुःखोंका देनेवाला है।

मालिनी।

कलहकलभविन्ध्यः कोपगृध्रश्मशानं
व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः।
सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवाम्भोदवायु-
र्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥ ४२ ॥

मनहरण।

कलह गयन्द उपजाइवेको विंधगिरि,
कोप गीधके अघाइवेको समशान है।
संकट भुजंगके निवास करिवेको बिल,
वैरभाव चोरको महानिशा समान है ॥
कोमल सुगुन घन खंडवेको महा पौन,
पुण्यवन दाहिवेको दावानलदान है।
नीत नय नीरज नसाइवेको हिमरासि,
ऐसो परिग्रहराग दुखको निधान है ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थौ—(अत्यर्थम् अर्थानुरागः) परिग्रहमें अत्यन्त अनुराग करना (कलहकलभविन्ध्यः) कलह रूपी हाथीको उत्पन्न करनेके लिये विन्ध्याचल पर्वत है, (कोपगृध्रश्मशानम्) क्रोधरूपी गीधके लिये श्मशानभूमि है, (व्यसनभुजगरन्ध्रम्) द्यूतादिक व्यसनरूपी सर्पोंके निवास करनेके लिये बिल है,

(द्वेपदस्युप्रदोपः) द्वेपरूपी चोरके लिये रात्रि है, (सुकृतवन-दवाग्निः) पुण्यरूपी वनको जलाने के लिये दावानल है, (मार्द-वाम्भोदवायुः) मार्दवरूपी बादलोंको उड़ानेके लिये वायु है, और (नयनलिनतुषारः) नीतिरूपी कमलको नष्ट करनेके लिये तुषार है।

शार्दूलविक्रीडित।

प्रत्यर्थी प्रशमस्य मित्रमधृतेर्मोहस्य विश्रामभूः
पापानां खनिरापदां पदमसद्ध्यानस्य लीलावनम्।
व्याक्षेपस्य निधिर्मदस्य सचिवः शोकस्य हेतुः कलेः
केलीवेश्म परिग्रहः परिहृतेर्योग्यो विविक्तात्मनाम् ॥४३॥

प्रशमको अहित् अधीरजको बाल-हित्,
महामोहराजाकी प्रसिद्ध राजधानी है।
भ्रमको निधान दुरध्यानको विलासवन,
विपतको थान अभिमानकी निशानी है॥
दुरितको खेत रोग सोग उतपत्ति हेत,
कलहनिकेत दुरगतिको निदानी है।
ऐसो परिग्रहभोग सबनको त्याग जोग,
आतम-गवेषी लोग याही भांति जानी है॥ ४३॥

अन्वयार्थौ—जो (प्रशमस्य) प्रशम अर्थात् शान्त परि-णामोंका (प्रत्यर्थी) शत्रु है, (अधृतेः) अधैर्यका (मित्रम्) मित्र है, (मोहस्य) मोहके (विश्रामभूः) विश्राम करनेका स्थान है, (पापानाम्) पापोंकी (खनिः) खानि है, (आपदाम्) आपत्तियोंका (पदम्) स्थान है, (असद्ध्यानस्य) आर्त्त

रौद्रादिक खोटे ध्यानोंके (लीलावनम्) क्रीड़ा करनेका वन है, (व्याक्षेपस्य) कलहका (निधिः) खजाना है, (मदस्य) अभिमान अथवा उन्मत्तताका (सचिवः) मन्त्री है, (शोकस्य) शोकका (हेतुः) कारण है और (कलेः) कलियुगके (केलीवेश्म) क्रीड़ा करनेका घर है, ऐसा (परिग्रहः) परिग्रह (विविक्तात्मनाम्) आत्माको अन्वेषण करनेवाले मनुष्योंको (परिहृतेः) छोड़ देनेके (योग्यः) योग्य है।

भावार्थ—आत्माका कल्याण करनेवाले मनुष्योंको परिग्रह छोड़ देना ही उचित है।

वह्निस्तृप्यति नेन्धनैरिह यथा नाम्भोभिरम्भोनिधि-
स्तद्वल्लोभघनो घनैरपि धनैर्जन्तुर्न संतुष्यति।
न त्वेवं मनुते विमुच्य विभवं निःशेषमन्यं भवं
यात्यात्मा तदहं मुधैव विदधाम्येनांसि भूयांसि किम्॥४४

छप्पय।

ज्यौं नहिं अग्नि अघाय, पाय ईंधन अनेक विधि।
ज्यौं सरिता घन नीर, तृपत नहिं होय नीरनिधि।
त्यौं असंख धन वढ़त, मूढ़ संतोष न मानहिं।
पाप करत नहिं डरत, वंधकारन मन आनहिं॥
परतछ विलोक जन्मन मरन, अथिररूप संसारक्रम।
समुझै न आप परताप गुन, प्रगट वनारसि मोह भ्रम॥ ४४॥

अन्वयार्थौ—(यथा) जैसे (इह) इस लोकमें (इन्धनैः) ईंधनसे (वह्निः) अग्नि (न तृप्यति) तृप्त नहीं होती, (अम्भोभिः) जलसे (अम्भोनिधिः) समुद्र (न) तृप्त नहीं होता,

(तद्वत्) उसीतरह (लोभघनः) अत्यन्त लोभी (जन्तुः) प्राणी (घनैः अपि धनैः) अधिकसे अधिक धन होनेपर भी (न सन्तुष्यति) सन्तुष्ट नहीं होता है (तु) और (आत्मा) मेरा यह आत्मा (निःशेषम्) यहाकी सारी (विभवम्) विभूतिको (विमुच्य) छोडकर (अन्यम्) दूसरे (भवम्) भवमें (याति) चला जाता है (तत्) इसलिये (अहम्) मै (मुधा एव) व्यर्थ ही (भूयांसि) अनेक घोर (एनांसि) पापोंको (किम्) क्यों (विदधामि) करता हूं ? (एवम् न मनुते) ऐसा कभी विचार भी नहीं करता है ।

क्रोधाधिकार ।

यो मित्रं मधुनो विकारकरणे संत्राससंपादने
सर्पस्य प्रतिबिम्बमङ्गदहने सप्तार्चिषः सोदरः ।
चैतन्यस्य निषूदने विषतरोः सब्रह्मचारी चिरं
स क्रोधः कुशलाभिलापकुशलैर्निर्मूलमुन्मूल्यताम् ॥४५॥

गीता छन्द ।

जो सुजन-चित्त-विकार कारन, मनहु मदिरापान ।
जो भरम भय चिन्ता वढावत, असित सर्प समान ॥
जो जंतुजीवनहरन विषतरु, तनदहन-दव-दान ।
सो कोपरास विनास भविजन, लहहु शिव सुखथान ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो क्रोध (विकारकरणे) चित्तके विकार करनेमें (मधुनः) मद्यका (मित्रम्) मित्र है, (संत्रा-ससम्पादने) भय उत्पन्न करनेमें (सर्पस्य प्रतिबिम्बम्) सर्पका प्रतिबिम्ब है, (अङ्गदहने) शरीरके जलानेमें (सप्तार्चिषः)

अग्निका (सोदरः) भाई है, (चैतन्यस्य निषूदने) और चैतन्य शक्तिको नष्ट करनेके लिये (विषतरोः) विषवृक्षका (चिरम् सब्रह्मचारी) चिरकालका साथी है, (सः क्रोधः) ऐसा जो क्रोध है सो (कुशलाभिलाषकुशलैः) आत्माको कुशल रखनेमें चतुर पुरुषोंको (निर्मूलम्) जड़से (उन्मूल्यताम्) उखाड़ डालना चाहिये अर्थात् क्रोध बिलकुल नही करना चाहिये ।

हरिणी ।

फलति कलितश्रेयःश्रेणीप्रसूनपरम्परः
प्रशमपयसा सिक्तो मुक्तिं तपश्चरणद्रुमः ।
यदि पुनरसौ प्रत्यासत्तिं प्रकोपहविर्भुजो
भजति लभते भस्मीभावं तदा विफलोदयः ॥ ४६ ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

जब मुनि कोइ बोइ तप तरुवर, उपशम जल सींचत चित खेत ।
उदित ज्ञान साखा गुण पल्लव, मंगल पहुप मुकतिफलहेत ॥
तब तिहि कोप दवानल उपजत, महामोह दल पवन समेत ।
सो भस्मंत करत छिन अंतर, दाहत विरखसहित मुनिचेत ॥४६॥

अन्वयार्थौ—(प्रशमपयसा) शान्त परिणामरूपी जलसे (सिक्तः) सींचा हुआ (तपश्चरणद्रुमः) तपश्चरणरूपी वृक्ष (कलितश्रेयःश्रेणीप्रसूनपरम्परः) अनेक कल्याणरूपी पुष्पोंकी परम्परासे सुशोभित होता है और (मुक्तिम् फलति) मोक्षरूपी फलको फलता है । (यदि) यदि (पुनः असौ) यह वृक्ष (प्रकोपहविर्भुजः) क्रोधरूपी अग्निसे (प्रत्यासत्तिं) सम्बन्धको (भजति) प्राप्त होता है, (तदा) तो (विफलो-

दयः 'सन्') विना फल दिये ही (भसीभावम् लभते) भस्म हो जाता है।

शार्दूलविक्रीडित।

संतापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय-
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम्।
कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ४७

वस्तु छन्द।

कलह मंडन कलह मंडन करन उद्वेग।
यशखंडन हित हरन, दुखविलापसंतापसाधन॥
दुरवैन समुच्चरन, धरम पुण्य मारग विराधन।
विनय दमन दुरगति गमन, कुमति रमन गुणलोप।
ये सब लक्षण जान मुनि, तजहिं ततक्षण कोप॥ ४७॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो क्रोध (सन्तापम्) संतापको (तनुते) बढ़ाता है, (विनयम्) विनयको (भिनत्ति) नष्ट कर देता है, (सौहार्दम्) मित्रताको (उत्सादयति) उखाड़ कर फेंक देता है, (उद्वेगम्) उद्वेगको (जनयति) उत्पन्न करता है, (अवद्यवचनम्) मिथ्या वचनोंको (सूते) उत्पन्न करता है, (कलिम्) कलह (विधत्ते) करता है, (कीर्त्तिम्) कीर्तिको (कृन्तति) काट डालता है, (दुर्मतिम्) कुबुद्धिको (वितरति) देता है, (पुण्योदयम्) पुण्योदयको (व्याहन्ति) नाश करता है, (कुगतिम्) कुगतिको (दत्ते) देता है और (सदोषः) अनेक दोषोंसे भरा हुआ है, (स रोषः) ऐसा

जो क्रोध है सो (सताम्) सज्जन पुरुषोंको (हातुम् उचितः) छोडने ही योग्य है।

यो धर्मं दहति द्रुमं दव इवोन्मश्नाति नीतिं लतां
दन्तीवेन्दुकलां विधुंतुद इव क्लिश्नाति कीर्तिं नृणाम्।
स्वार्थं वायुरिवाम्बुदं विघटयत्युल्लासयत्यापदं
तृष्णां घर्म इवोचितः कृतकृपालोपः स कोपः कथम् ४८

छपय्य।

कोप धरम धन दहै, अग्नि जिम विरख विनासहि।
कोप सुजस आवरहि, राहु जिम चंद गरासहि॥
कोप नीति दलमलहि, नाग जिम लता विहंडहि।
कोप काज सब हरहि, पवन जिम जलधर खंडहि॥
संचरत कोप दुख ऊपजै, बढ़ै तृषा जिम धूपमहँ।
करुणा विलोप गुण गोप जुत, कोप निषेध महंत-कहँ॥ ४८॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो क्रोध (द्रुमम् दव इव) वृक्षको दावानल अग्निके समान (नृणाम्) मनुष्योंके (धर्मम्) धर्मको (दहति) जला देता है, (लताम् दन्ती इव) लताको हाथीके समान (नीतिम्) नीतिको (उन्मश्नाति) उखाड़ कर फेंक देता है, (इन्दुकलाम् विधुंतुदः इव) चन्द्रमाकी कलाको राहुके समान (कीर्तिम्) कीर्तिको (क्लिश्नाति) ढक लेता है, (अम्बुदम् वायुः इव) बादलको वायुके समान (स्वार्थम्) अपने स्वार्थको (विघटयति) नष्ट कर देता है, (तृष्णाम् घर्मः इव) प्यासको धूपके समान (आपदम्) आपत्तियोंको (उल्लासयति) उत्तेजित करता है, और (कृतकृपालोपः) करुणाका सर्वथा

लोप कर देता है (सः कोपः) ऐसा क्रोध करना (कथम्) किस प्रकार (उचितः) उचित हो सकता है?

मानाधिकार ।

मन्दाक्रान्ता ।

यस्मादाविर्भवति विततिर्दुस्तरापन्नदीनां
यस्मिञ्शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनामापि नास्ति ।
यश्च व्याप्तं वहति वधधीधूम्यया क्रोधदावं
तं मानाद्रिं परिहर दुरारोहमौचित्यवृत्तेः ॥ ४९ ॥

कवित्त (मात्रा ३१)।

जातैं निकसि विपति सरिता सब, जगमैं फैल रही चहुँ ओर ।
जाके ढिग गुणग्राम नाम नहिं, माया कुमतिगुफा अति घोर ॥
जहँ वधवुद्धि धूमरेखा सम, उदित कोप दावानल जोर ।
सो अभिमान पहार पटंतर, तजत ताहि सर्वज्ञकिशोर ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थौ—(यस्मात्) जिस अहंकाररूपी पर्वतसे (दुस्तरापन्नदीनाम्) विकराल आपत्तिरूप नदियोंके (विततिः) समूह (आविर्भवति) निकलते है, (यस्मिन्) जिस पर्वतमें (शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनाम अपि) शिष्ट पुरुषोंके धारण करनेयोग्य गुणरूपी ग्रामका नाम भी (नास्ति) नहीं है, (च) और (यः) जो (वधधीधूम्यया) हिंसा करनेके परिणामरूप धूमके साथ (व्याप्तम्) चारों ओर फैले हुए (क्रोधदावम्) क्रोधरूपी दावानलको (वहति) धारण करता है, (तम्) उस (दुरारोहम्) कठिनतासे चढ़ने योग्य (मानाद्रिम्)

अहंकाररूपी पर्वतको (औचित्यवृत्तेः) उचित वृत्तिसे अर्थात् समुचित्त कार्यों और आचरणोंके द्वारा (परिहर) छोड़ दे।

शिखरिणी।

शमालानं भञ्जन्विमलमतिनाडीं विघटय-
न्किरन्दुर्वाक्पांशूत्करमगणयन्नागमसृणिम्।
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनयवनवीथीं विदलयन्
जनः कं नानर्थं जनयति मदान्धो द्विप इव॥५०॥

रोड़क छन्द।

भंजहिं उपशम थंभ, सुमति जंजीर विहंडहिं।
कुवचन रज संग्रहहिं, विनयवनपंकति खंडहिं॥
जगमें फिरहिं स्वछन्द, वेद अंकुश नहिं मानहिं।
गज ज्यौं नर मदअन्ध, सहज सब अनरथ ठानहिं॥५०॥

अन्वयार्थौ—(शमालानम्) शान्ततारूप आलानको (भञ्जन्) उखाड़ता हुआ, (विमलमतिनाडीम्) निर्मल बुद्धिरूपी संकलको (विघटयन्) तोड़ता हुआ, (दुर्वाक्पांशूत्करम्) दुष्ट वचनरूपी धूलिसमूहको (किरन्) उड़ाता हुआ, (आगमसृणिम्) शास्त्ररूपी अंकुशको (अगणयन्) नही मानता हुआ, (उर्व्याम्) संसारमें (स्वैरम्) स्वच्छन्द (भ्रमन्) फिरता हुआ, (विनयवनवीथीम्) विनयरूपी निकुंजोंको (विदलयन्) कुचलता हुआ, (मदान्धः) अहंकारसे अन्धा (जनः) मनुष्य (मदान्धः) मदोन्मत्त (द्विप इव) हाथीके समान (कम् अनर्थम्) कौन कौनसे अनर्थ (न जनयति) नहीं करता? अर्थात् ऐसा कोई उपद्रव नहीं है, जिसे अभिमानी न कर डाले।

शार्दूलविक्रीडित।

औचित्याचरणं विलुम्पति पयोवाहं नभस्वानिव
प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम्।
कीर्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव प्रोन्मूलयत्यञ्जसा
मानो नीच इवोपकारनिकरं हन्ति त्रिवर्गं नृणाम्॥५१॥

करिखा छन्द।

मान सब उचित आचार भंजन करै,
पवन सचार जिम घन विहंडहि।
मान आदर-तनय विनय लोपै सकल,
भुजग-विष भीर जिम मरन मंडहि॥
मानके उदित जगमाहिं विनसै सुयश,
कुपित मातंग जिम कुमुद खंडहि।
मानकी रीति विपरीति करतूति जिम,
अधमकी प्रीति नर नीति छंडहि॥ ५१॥

अन्वयार्थौ—(**नभस्वान् पयोवाहम् इव**) जैसे वायु बादलको नष्ट कर देता है, उसी तरह (**मानः**) अभिमान (**औचित्याचरणम्**) समुचित आचरणोंका (**विलुम्पति**) लोप कर देता है, (**प्राणस्पृशाम्**) प्राणियोंके (**जीवितम्**) जीवनको (**अहिः इव**) जैसे सर्प नष्ट कर देता है, वैसे (**विनयम्**) विनयको (**प्रध्वंसम्**) नष्ट (**नयति**) कर देता है, (**कैरविणीम्**) कमलिनीको (**मतङ्गज इव**) जैसे मस्त हाथी उखाड़ डालता है वैसे (**कीर्तिम्**) कीर्त्तिको (**अञ्जसा**) शीघ्र ही (**प्रोन्मूलयति**) उखाडकर फेंक देता है, (**उपकारनिकरम्**) और उपकारोंके समूहको (**नीच इव**) जैसे नीच नष्टकर देता है—भूल जाता

है, वैसे (नृणाम्) मनुष्योंके (त्रिवर्गम्) धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पदार्थोंको (हन्ति) नष्ट कर देता है।

वसन्ततिलका।

मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं
संजीवनं विनयजीवितमङ्गभाजाम्।
जात्यादिमानविषजं विषमं विकारं
तं मार्दवामृतरसेन नयस्व शान्तिम् ॥ ५२ ॥

चौपाई (मात्रा १५)

मान विषम विष तन संचरै। विनय विनाशै वांछित हरै ॥
कोमल गुन अम्रत संजोग। विनशै मान विषम विषरोग ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थौ—हे भव्यो, (यः) जो (अङ्गभाजाम्) प्राणियोंके (कृतसमस्तसमीहितार्थम्) सारे वांछित पदार्थोंके देनेवाले और (संजीवनं) संजीवनस्वरूप (विनयजीवितम्) विनय जीवनको (मुष्णाति) चुरा लेता है, (तम्) उस (जात्यादिमानविषजम्) जाति, कुल, बल, ऋद्धि, तप, शरीर, ज्ञान और ऐश्वर्यके अभिमान करने रूप विषसे उत्पन्न हुए (विषमम्) विषम (विकारम्) विकारको (मार्दवामृतरसेन) मार्दवरूपी अमृत रससे (शान्तिम्) शान्त (नयस्व) करो।

मायाधिकार।

मालिनी।

कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसन्ध्यां
कुगतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम्।

शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम् ॥ ५३ ॥

रोड़क छन्द ।

कुशल जननकों वॉझ, सत्य रवि हरन सॉंझथिति ।
कुगति युवतिउर माल, मोह कुंजर निवास छिति ॥
शम वारिज हिमराशि, पाप संताप सहायनि ।
अयश खान जग जान, तजहु माया दुखदायनि ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थौ—(कुशलजननवन्ध्याम्) जो कुशलता के उत्पन्न करनेमें वन्ध्या है, (सत्यसूर्यास्तसन्ध्याम्) सत्यरूपी सूर्यके अस्त होनेके लिये सन्ध्या है, (कुगतियुवतिमालाम्) नरकादिक दुर्गतिरूप तरुणीकी वरमाला है, (मोहमातङ्ग-शालाम्) मोहरूपी हाथीके रहनेके लिये शाला है, (शमकम-लहिमानीम्) उपशमरूपी कमलोंको नष्ट करनेके लिये हिमकी (तुपारकी) राशि है, (दुर्यशोराजधानीम्) अपयशकी राजधानी है और (व्यसनशतसहायाम्) सैकड़ों व्यसनोंको सहायता देने वाली है, ऐसी (मायाम्) मायाको (दूरतः) दूरसे ही (मुञ्च) छोड दो ।

उपेन्द्रवज्रा ।

विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्गसुखान्महामोहसखाः स्वमेव ५४

येसरी छन्द ।

मोहमगन मायामति संचहिं । कर उपाय औरनको वंचहिं ।
अपनी हानि लखैं नहिं सोय । सुगति हरैं दुर्गति दुख होय ५४

अन्वयार्थौ—(ये) जो पुरुष (विविधैः उपायैः) नाना प्रकारके उपायोंसे (मायाम्) कपट (विधाय) करके (परस्य वञ्चनम् आचरन्ति) दूसरे लोगोंको ठगते हैं, (ते) वे (महा-मोहसखाः) मोहके प्यारे मित्र (स्वम् एव) अपनेको ही (त्रिदिवापवर्गसुखात्) स्वर्ग और मोक्षके सुखसे (वञ्चयन्ति) वंचित रखते हैं। अर्थात् दूसरोंको मायाचारसे ठगनेवाले वास्तवमें पूछा जाय, तो आपहीको ठगते हैं। क्योंकि उस मायाचारसे वे स्वर्ग मोक्षादिके सुख नहीं पा सकते हैं।

वंशस्थविलम्।

मायामविश्वासविलाससन्दिरं
दुराशयो यः कुरुते धनाशया।
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते
यथा विडालो लगुडं पयः पिवन्॥ ५५॥

पद्धरीछन्द।

माया अविसासविलासगेह। जो करहि मूढ जन धन-सनेह।
सो कुगतिवंध नहिं लखै एम। तज भय विलाव पय पियत जेम ५५

अन्वयार्थौ—(यः) जो (दुराशयः) खोटे परिणामों-वाला मनुष्य (धनाशया) धनकी इच्छासे (अविश्वासविलास-मन्दिरम्) अविश्वासके क्रीड़ा करनेकी शालारूप (मायां) मायाको (कुरुते) करता है, (सः) वह (पतन्तम्) ऊपरसे पड़ते हुए (अनर्थसार्थम्) अनर्थोंके समूहको (न) इसप्रकार नहीं (ईक्ष्यते) देखता है, (यथा) जैसे कि (पयः) दूध (पिवन्)

पीता हुआ (विडालः) बिलाव (लगुडम्) ऊपरसे पड़ती हुई लकड़ीको नही देखता है ।

वसन्ततिलका ।

मुग्धप्रतारणपरायणमुज्जहीते
यत्पाटवं कपटलम्पटचित्तवृत्तेः ।
जीर्यत्युपप्लवमवश्यमिहाप्यकृत्वा
नापथ्यभोजनमिवामयमायतौ तत् ॥ ५६ ॥

अभानक छन्द ।

ज्यों रोगी कर कुपथ, बढ़ावै रोग तन ।
स्वादलंपटी भयो, कहै मुझ जनम धन ॥
त्यों कपटी कर कपट, मुगधको धन हरहि ।
करहि कुगतिको बंध, हरष मनमें धरहि ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थौ—(कपटलम्पटचित्तवृत्तेः) जिनके विचार सदा कपट करनेमें ही तत्पर रहते है, ऐसे कपटी पुरुषोंका (यत्) जो (मुग्धप्रतारणपरायणं) भोले पुरुषोके ठगनेमें तत्पर (पाटवं) चातुर्य (उज्जहीते) उल्लासित होता है, (तत्) वह कपटचातुर्य (अवश्यं) निश्चय समझो कि, (आयतौ) फलदान कालमें (अपथ्यभोजनं आमयमिव) जैसे अपथ्य भोजन रोग उत्पन्न किये विना नहीं पचता, उसतरह (इहापि) इसी लोकमें (उपप्लवं अकृत्वा) विना कुछ उपद्रव किये (न जीर्यति) नष्ट नही होता है।

भावार्थ—जैसे अपथ्य भोजन करनेसे कुछ न कुछ रोग होता ही है, विना रोग हुए अपथ्य भोजन पचता नही; इसी

तरह मायावी पुरुषका कपटचातुर्य भी विना कुछ उपद्रवादिक फल दिये नहीं रहता।

लोभाधिकार।

शार्दूलविक्रीडित।

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ५७

मनहरण।

सहै घोर संकट समुद्रकी तरंगनिमैं,
कंपै चित भीत पंथ गाहै बीच बनमैं।
ठानै कृषिकर्म जामैं शर्मको न लेश कहूं,
संकलेशरूप होय जूझ मरै रनमैं॥
तजै निज धामको विराजि परदेश धावै,
सेवै प्रभु कृपण मलीन रहै मनमैं।
डोलै धन कारज अनारज मनुज मूढ,
ऐसी करतूति करै लोभकी लगनमैं॥ ५७॥

अन्वयार्थौ—(धनान्धितधियः) जिनकी बुद्धि धनसे अंधी हो रही है, ऐसे पुरुष (यत्) जो (दुर्गाम्) दुर्गम (अटवीम्) अटवीमें (अटन्ति) भटकते फिरते हैं, (विकटम्) विकट (देशान्तरम्) परदेशमें (क्रामन्ति) गमन करते हैं, (गहनम्) अत्यन्त गहरे (समुद्रम्) समुद्रका (गाहन्ते) अवगाहन करते हैं, (अतनुक्लेशाम्) अत्यन्त क्लेश देनेवाली (कृषिम्) खेती (कुर्वते) करते हैं, (कृपणम्) कृपण (पतिम्) स्वामीकी (सेवन्ते)

सेवा करते हैं, और (गजघटासंघट्टदुःसञ्चरम्) अनेक हाथियों-के संघट्टसे जहां चलना मुश्किल होता है ऐसे (प्रधनम्) घोर युद्धमें (सर्पन्ति) जाकर युद्ध करते हैं; (तत्) सो सब (लोभ विस्फूर्जितम्) लोभके वशीभूत होकर करते है ।

भावार्थ—लोभके वशीभूत होकर लोग कठिनसे कठिन कार्य तथा अकार्य करते हैं ।

मूलं मोहविषद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः
क्रोधाग्नेररणिः प्रतापतरणिप्रच्छादने तोयदः ।
क्रीडासद्मकलेर्विवेकशशिनः स्वर्भानुरापन्नदी-
सिन्धुः कीर्तिलताकलापकलभो लोभः पराभूयताम् ५८

पूरन प्रताप रवि रोकवेको धाराधर;
सुकृत समुद्र सोखवेको कुम्भनंद है ।
कोप-दव-पावक जननको अरणि दारु,
मोह विष भूरुहको महा दृढ कंद है ॥
परम विवेक निशिमणि ग्रासवेको राहु,
कीरतिलताकलाप दलन गयंद है ।
कलहको केलिभौन आपदा नदीको सिंधु,
ऐसो लोभ याहूको विपाक दुख द्वंद है ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थौ—(मोहविषद्रुमस्य) जो मोहरूपी विषवृक्षकी (मूलम्) जड है, (सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः) पुण्यरूपी समुद्रके सोखनेके लिये अगस्त्य मुनि है, (क्रोधाग्नेः) क्रोधरूपी अग्निको बढ़ानेके लिये (अरणिः) लकड़ी है, (प्रतापतरणि-

---

१ बादल । २ अगस्त्यमुनि । ३ वृक्ष । ४ चंद्रमा ।

प्रच्छादने) प्रतापरूपी सूर्यको आच्छादन करने के लिये (तोयदः) वादल है, (कलेः) कलहके (क्रीडासद्म) क्रीड़ा करनेका स्थान है, (विवेकशशिनः) विवेकरूपी चन्द्रमाके लिये (स्वर्भानुः) राहु है, (आपन्नदीसिन्धुः) विपत्तिरूप नदियोंके आकर मिलने लिये समुद्र है, और (कीर्त्तिलताकलापकलभः) कीर्त्तिरूपी लताओंके समूहको उखाड़नेके लिये हाथीका वच्चा है; (लोभः) ऐसा लोभ (पराभूयताम्) तिरस्कार करने योग्य है । अर्थात् उसे छोड़ देना चाहिये ।

वसन्ततिलका ।

निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे
दुःखौघभस्मनि विसर्पदकीर्तिधूमे ।
वाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने
लोभानले शलभतां लभते गुणौघः ॥ ५९ ॥

छप्पय ।

परम धरम वन दहै, दुरित अंवर गति धारहि ।
कुयश धूम उदगरै, भूरि भय भस्म विथारहि ॥
दुख फुलिंग फुंकरै, तरल तृष्णा कल काढ़हि ।
धन ईंधन आगम सँजोग, दिन दिन अति वाढ़हि ॥
लहलहै लोभ पावक प्रवल, पवन मोह उद्धत वहै ।
दज्झहि उदारता आदि वहु, गुण पतंग 'कँवरा' कहै ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थौ—(निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे) जो समस्त धर्मरूपी वनको जलाती हुई वढती है, (दुःखौघभस्मनि) अनेक दुःखोंका समूह ही जिसकी भस्म है, (विसर्पदकीर्त्तिधूमे)

जिसका अपयशरूपी धूआं चारों ओर फैलता है, और जो (बाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने) यथेष्ट धनरूपी ईंधनके मिलनेसे देदीप्यमान होती है, ऐसी (लोभानले) लोभरूपी अग्निमें (गुणौघः) गुणोंके समूह (शलभताम् लभते) पतगे हो जाते है। अर्थात् जिसतरह अग्निमे गिरकर पतगे जल जाते है, उसीतरह लोभमे पडकर सारे गुण नष्ट हो जाते है।

शार्दूलविक्रीडित।

जातः कल्पतरुः पुरः सुरगवी तेषां प्रविष्टा गृहं
चिन्तारत्नमुपस्थितं करतले प्राप्तो निधिः संनिधिम्।
विश्वं वश्यमवश्यमेव सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियो
ये संतोषमशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदं बिभ्रते॥ ६०॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

बिलसै कामधेनु ताके घर, पूरै कल्पवृक्ष सुखपोष।
अखय भँडार भरै चिंतामणि, तिनको सुलभ सुरग औ मोष॥
ते नर स्ववश करैं त्रिभुवनको, तिनसौं विमुख रहै दुख दोष।
सबै निधान सदा तिनके ढिग, जिनके हृदय वसत संतोष॥ ६०॥

अन्वयार्थौ—(येः) जो पुरुष (अशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदम्) समस्त दोषोंको ध्वंस करनेके लिये बादलोके समान (सन्तोषम्) संतोषको (बिभ्रते) धारण करते है, (तेषाम्) उनके (पुरः) सन्मुख ही (कल्पतरुः) कल्पवृक्ष (जातः) उत्पन्न होता है, (सुरगवी) कामधेनु (तेषाम् गृहम् प्रविष्टा) उनके घर प्रवेश करती है, (चिन्तारत्नम्) चिन्तामणि रत्न (करतले उपस्थितम्) उनकी हथेली पर आ उपस्थित होता है,

(निधिः) निधि (सन्निधिम् प्राप्तः) उनके सन्निकट ही आ जाती है, (स्वर्गापवर्गश्रियः) स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मी (सुलभाः) सहज ही प्राप्त हो जाती है और (विश्वम्) संसार (अवश्यम् एष वश्यम्) अवश्य ही उनके वश हो जाता है।

सज्जनाधिकार।

शिखरिणी।

वरं क्षिप्तः पाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे
वरं झम्पापातो ज्वलदनलकुण्डे विरचितः।
वरं प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विनिहितो
न जन्यं दौर्जन्यं तदपि विपदां सद्म विदुषा॥ ६१॥

चौपाई (१६ मात्रा)।

वरु अहिवदन हत्थ निज डारहिं। अगनिकुंडमें तन परजारहिं।
दारहिं उदर करहिं विष भच्छन। पै दुष्टता न गहहिं विचच्छन ६१

अन्वयार्थौ—(कुपितफणिनः) क्रोधित हुए सर्पके (वक्त्रकुहरे) मुखमें (पाणिः क्षिप्तः वरम्) हाथ डालना अच्छा है, (ज्वलदनलकुण्डे) जलते हुए अग्निकुंडमें (विरचितः झम्पापातः वरम्) पड़ जाना अच्छा है, और (जठरान्तः सपदि विनिहितः प्रासप्रान्तः वरम्) शीघ्र ही विष खा लेना अच्छा है; (तदपि) परन्तु (विदुषा) विद्वानोंको (विपदाम्) आपत्तियोंका (सद्म) घर (दौर्जन्यम्) दौर्जन्य (न जन्यम्) करना अच्छा नहीं है। अर्थात् दुर्जनता नहीं करनी चाहिये।

वसन्ततिलका ।

सौजन्यमेव विदधाति यशश्चयं च
स्वश्रेयसं च विभवं च भवक्षयं च ।
दौर्जन्यमावहसि यत्कुमते तदर्थम्
धान्येऽनलं क्षिपसि तज्जलसेकसाध्ये ॥ ६२ ॥

मत्तगयन्द (सवैया)।

ज्यौं कृषिकार भयो चित वांतुल, सो कृषिकी करनी इम ठानै ।
वीज वैवै न करै जल सिंचन, पावकसौं फलको थल भानै ॥
त्यौं कुमती निज स्वारथके हित, दुर्जनभाव हियेमहँ आनै ।
संपति कारन वंध विदारन, सज्जनता सुखमूल न जानै ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थौ—(हे कुमते) अरे अज्ञानी (सौजन्यम् एव) सुजनता ही (यशश्चयम्) यशका सम्पादन (च) और (स्वश्रेयसम्) आत्मकल्याण (च) तथा (विभवम्) विभूति (च) और (भवक्षयम्) जन्ममरणरूप संसारका नाश (विदधाति) करती है । (यत्) यदि तू (तदर्थम्) यश कल्याण विभूति आदिके लिये (दौर्जन्यम्) दुर्जनता (आवहसि) धारण करेगा, (तत्) तो समझना चाहिये कि तू (जलसेकसाध्ये) जलसे सींचने योग्य (धान्ये) धानोंमें (अनलम्) अग्नि (क्षिपसि) डालता है ।

पृथ्वी ।

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः संपदः ।

कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
विपाकविरसा न तु श्वयथुसंभवा स्थूलता ॥ ६३ ॥

अभानक छन्द ।

वर दरिद्रता होय, करत सज्जन कला ।
दुराचारसौं मिलै, राज सो नहिं भला ॥
ज्यौं शरीर कृश सहज, सुशोभा देत है ।
सूज थूलता बढ़ै, मरनको हेत है ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थौ—(सुजनभावभाजाम्) सुजनताको धारण करनेवाले अर्थात् सज्जन (नृणाम्) मनुष्योंको (विभवबन्ध्यता) दरिद्र रहना (वरम्) अच्छा है (पुनः) परन्तु (असाधुचरितार्जिताः) दुर्जनतासे कमाया हुआ (ऊर्जिताः) बहुत (सम्पदः) धन होना (न) अच्छा नहीं है। (आयतौ) दीर्घ शरीरमें (सहजम्) स्वाभाविक (कृशत्वम् अपि) दुबलापन तो (सुन्दरं) सुन्दर मालूम होता है (तु) परन्तु (विपाकविरसा) जिसका फल बुरा है, ऐसी (श्वयथुसम्भवा) सूजनसे होनेवाली (स्थूलता) स्थूलता (न शोभते) शोभायमान नही होती ।

भावार्थ—दरिद्र रहना अच्छा है, पर दुर्जनतासे बहुतसा धन कमाकर धनाढ्य होना अच्छी नही । जैसे कि, दुबला रहना अच्छा, परन्तु सूजनसे मोटा हो जाना अच्छा नही ।

शार्दूलविक्रीडित ।

न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं
संतोषं वहते परर्द्धिषु पराबाधासु धत्ते शुचम् ।

स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लङ्घय-
प्युक्तोऽप्यप्रियमक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सताम् ॥ ६४॥

पद्पद ।

नहिं जंपैं परदोप, अल्प परगुण बहु मानहिं ।
हृदय धरैं संतोष, दीन लखि करुणा ठानहिं ॥
उचित रीत आदरहिं, विमल नय नीति न छंडहिं ।
निज सराहना हरहिं, राम रचि विषय विहंडहिं ॥
मंडहिं न कोप दुरवचन सुन, सहज मधुर धुनि उच्चरहिं ॥
कहि कँवरपाल जग जाल बसि, ये चरित्र सज्जन करहिं ॥ ६४

अन्वयार्थौ—(परदूषणम् न ब्रूते) दूसरोंके दोष प्रगट नहीं करते, (अल्पम् अपि परगुणम् अन्वहम् वक्ति) दूसरोंके थोड़ेसे गुणोंको भी रात दिन कहते है, (परर्द्धिषु सन्तोपम् वहते) दूसरोंकी ऋद्धिकी वृद्धि देखकर सन्तोष धारण करते है, (परबाधासु शुचम् धत्ते) दूसरोंके दु.खमें दुःखी होते है, (स्वश्लाघाम् न करोति) अपनी प्रशसा नहीं करते, (नयम् न उज्झति) नीति नही छोड़ते, (औचित्यम् न लङ्घयति) औचित्यका उल्लंघन नहीं करते अर्थात् उचित कार्य ही करते है, (अप्रियम् उक्तः अपि अक्षमाम् न रचयति) और कोई गाली गलौज आदि दुष्ट वचन कहै, तौ भी क्रोधित नहीं होते; (एतत्) ये सब (सताम्) सज्जनोंके (चरित्रम्) चरित्र है । अर्थात् जो सज्जन पुरुष होते है, वे उक्त कार्य करते हैं ।

गुणिसङ्गाधिकार ।

धर्मं ध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्तं प्रमत्तः पुमा-
न्काव्यं निष्प्रतिभस्तपः शमदमैः शून्योऽल्पमेधः श्रुतम् ।

वस्त्वालोकमलोचनश्चलमना ध्यानं च वाञ्छत्यसौ
यः सङ्गं गुणिनां विमुच्य विमतिः कल्याणमाकाङ्क्षति ॥

मत्तगयन्द (सवैया)।

सो करुणाविन धर्म विचारत, नैन विना लखिवेको उमाहै।
सो दुरनीति धरै यश हेतु, सुधी विन आगमको अवगाहै ॥
सो हियशून्य कवित्त करै, समता विन सो तपसौं तन दाहै।
सो थिरता विन ध्यान धरै शठ, जो सतसंग तजै हित चाहै ६५

अन्वयार्थौ—(यः) जो (विमतिः) मूर्ख पुरुष (गुणिनाम्) गुणवान् पुरुषोंका (सङ्गम्) साथ (विमुच्य) छोड़कर (कल्याणम् आकाङ्क्षति) अपना कल्याण करना चाहता है, (असौ ध्वस्तदयः पुमान् धर्मम् वाञ्छति) वह पुरुष विना दया किये धर्म करना चाहता है, (च्युतनयः यशः वाञ्छति) नीतिके विना ही यश फैलाना चाहता है, (प्रमत्तः वित्तम् वाञ्छति) आलसी होकर धन कमाना चाहता है, (निष्प्रतिभः काव्यम् वाञ्छति) विना प्रतिभाके कविता करना चाहता है, (शमदमैः शून्यः तपः वाञ्छति) इन्द्रियदमन और शान्तताके विना ही तप करना चाहता है, (अल्पमेधः श्रुतम् वाञ्छति) थोड़ीसी बुद्धिके द्वारा ही शास्त्रका पारगामी होना चाहता है, (अलोचनः वस्त्वालोकम् वाञ्छति) नेत्रोंके विना ही वस्तुओंको देखना चाहता है, (च) और (चलमनाः ध्यानम् वाञ्छति) चंचलचित्त होकर ध्यान करनेकी इच्छा करता है।

भावार्थ—जैसे दया आदिके विना धर्मादि नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार सज्जनोंकी संगतिके विना कल्याण नहीं हो सकता है।

हरिणी ।

हरति कुमतिं भिन्ते मोहं करोति विवेकितां
वितरति रतिं सूते नीतिं तनोति विनीतताम् ।
प्रथयति यशो धत्ते धर्मं व्यपोहति दुर्गतिं
जनयति नृणां किं नाभीष्टं गुणोत्तमसंगमः ॥ ६६ ॥

घनाक्षरी ।

कुमति निकंद होय महा मोह मंद होय,
जगमगै सुयश विवेक जगै हियेसौं ।
नीतको दिढ़ाव होय विनैको बढ़ाव होय,
उपजै उछाह ज्यौं प्रधान पद लियेसौं ॥
धर्मको प्रकाश होय दुर्गतिको नाश होय,
वरतै समाधि ज्यौं पियूष रस पियेसौं ।
तोष परि पूर होय, दोष दृष्टि दूर होय,
एते गुन होहिं सतसंगतिके कियेसौं ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थौ—(गुणोत्तमसङ्गमः) गुणवान् पुरुषोंकी सगति (कुमतिम् हरति) कुबुद्धिका नाश करती है, (मोहम् भिन्ते) मोहको छिन्न भिन्न कर डालती है, (विवेकिताम् करोति) विवेकी वना देती है, (रतिम् वितरति) उत्साह वढाती है, (नीतिम् सूते) नीतिको उत्पन्न करती है, (विनीतताम् तनोति) नम्रता वा विनयशीलता बढ़ाती है, (यशः प्रथयति) कीर्त्ति फैलाती है, (धर्म्मम् धत्ते) धर्म सेवन कराती है, (दुर्गतिम् व्यपोहति) नरकादिक दुर्गतियोंको नष्ट कर देती है, और (नृणाम् किम् अभीष्टम् न जनयति) तथा मनुष्योंको कौन कौनसे इच्छित पदार्थोंको नहीं देती ? सभी देती है ।

भावार्थ—गुणवान् पुरुषोंकी संगति करनेसे सारी इच्छाएं पूर्ण हो सकती हैं।

शार्दूलविक्रीडित।

लब्धुं बुद्धिकलापमापदमपाकर्तुं विहर्तुं पथि
प्राप्तुं कीर्तिमसाधुतां विधुवितुं धर्मं समासेवितुम्।
रोद्धुं पापविपाकमाकलयितुं स्वर्गापवर्गश्रियं
चेत्त्वं चित्त समीहसे गुणवतां सङ्गं तदङ्गीकुरु॥ ६७॥

कुंडलिया।

'कौंरा' ते मारग गहैं, जे गुणिजन सेवंत।
ज्ञानकला तिनके जगै, ते पावहिं भव अंत॥
ते पावहिं भव अंत, शांतरस ते चित धारहिं।
ते अघ आपद हरहिं, धरमकीरति विस्तारहिं॥
होंहिं सहज ते पुरुष, गुनी वारिजके भौंरा।
ते सुर संपति लहैं, गहैं ते मारग 'कौंरा'॥ ६७॥

अन्वयार्थौ— (हे चित्त) हे अन्तःकरण, यदि (त्वम्) तू (बुद्धिकलापम् लब्धुम्) नाना प्रकारकी बुद्धि प्राप्त करनेके लिये, (आपदम् अपाकर्त्तुम्) विपत्तियोंको दूर करनेके लिये, (पथि विहर्त्तुम्) श्रेष्ठमार्गमें यथेष्ट विहार करनेके लिये, (कीर्त्तिम् प्राप्तुम्) यश फैलानेके लिये, (असाधुताम् विधुवितुम्) दुष्टताको दूर करनेके लिये, (धर्मम् समासेवितुम्) धर्म सेवन करनेके लिये, (पापविपाकम् रोद्धुम्) पापोंके फल दुःखादिकोंके रोकनेके लिये और (स्वर्गापवर्गश्रियम् आकलयितुम्) स्वर्ग तथा मोक्षकी लक्ष्मीको बुलानेके लिये (गुणवताम्) गुणवान्

पुरुषोंका (सङ्गम्) साथ (समीहसे चेत्) चाहता है, तो (तत्) उसे अर्थात् गुणीजनोंकी संगतिको (अङ्गीकुरु) स्वीकार कर।

हारिणी।

हिमति महिमाम्भोजे चण्डानिलत्युदयाम्वुदे
द्विरदति दयारामे क्षेमक्षमाभृति वज्रति।
समिधति कुमत्यग्नौ कन्दत्यनीतिलतासु यः
किमभिलषतां श्रेयः श्रेयान्स निर्गुणिसङ्गमः॥ ६८॥

षट्पद।

जो महिमा गुन हनहि, तुहिन जिम वारिज वारहि।
जो प्रताप संहरहि, पवन जिम मेघ विडारहि॥
जो शम दम दलमलहि, द्विरद जिम उपवन खंडहि।
जो सुछेम छय करहि, वज्र जिम शिखर विहंडहि॥
जो कुगति अग्नि ईंधनसरिस, कुनयलता दृढ मूल जग।
सो दुष्टसंग दुख पुष्ट कर, तजहिं विचक्षण तासु मग॥ ६८॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो (महिमाम्भोजे हिमति) महिमारूपी कमलके नाश करनेके लिये हिमके समान है, (उदयाम्वुदे चण्डानिलति) भाग्योदयरूपीमेघके उड़ानेके लिये तीव्र वायुके समान है, (दयारामे द्विरदति) दयारूपी वागके उजाडनेके लिये हाथीके समान है, (क्षेमक्षमाभृति वज्रति) कल्याणरूपी पर्वतके लिये वज्रके समान है, (कुमत्यग्नौ समिधति) कुबुद्धिरूपी अग्निके प्रज्वलित करनेके लिये लकड़ीके समान है और (अनीतिलतासु कन्दति) अन्यायरूपी लताओंके दृढ करनेके लिये जड़ (मूल) के समान है, (स निर्गुणिसङ्गमः)

वह निर्गुण मनुष्योंका साथ (श्रेयः अभिलषताम्) अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको (किम् श्रेयान्) क्या कल्याणकारी हो सकता है? कभी नही।

भावार्थ—निर्गुण पुरुषोंकी संगतिसे कभी किसी तरहका भी कल्याण नही हो सकता है।

इन्द्रियाधिकार।

शार्दूलविक्रीडित।

आत्मानं कुपथेन निर्गमयितुं यः शूकलाश्वायते
कृत्याकृत्यविवेकजीवितहृतौ यः कृष्णसर्पायते।
यः पुण्यद्रुमखण्डखण्डनविधौ स्फूर्जत्कुठारायते
तं लुप्तव्रतमुद्रमिन्द्रियगणं जित्वा शुभंयुर्भव॥ ६९॥

हरिगीतिका।

जे जगत जनको कुपथ डारहिं, वक्र शिक्षित तुरगसे।
जे हरहिं परम विवेक जीवन, काल-दारुण उरगसे॥
जे पुण्यवृक्षकुठार तीखन, लुप्त व्रतमुद्रा करैं।
ते करन सुभट प्रहार भविजन, तव सुमारग पग धरैं॥ ६९॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् (यः) जो इन्द्रियोंका समूह (आत्मानम्) आत्माको (कुपथेन) कुमार्गमें (निर्गमयितुम्) लेजानेके लिये (शूकलाश्वायते) अशिक्षित घोड़ेके समान है, (यः) तथा जो (कृत्याकृत्यविवेकजीवितहृतौ) कृत्य और अकृत्यके ज्ञान रूपी जीवनके नाश करनेके लिये (कृष्णसर्पायते) काले सर्पके समान है, (यः)और जो(पुण्यद्रुमखण्डखण्डनविधौ) पुण्यरूपी वृक्षके काटनेके लिये (स्फूर्जत्कुठारायते) तीव्र कुठारके

समान है, (तम्) उस (लुप्तव्रतम्) चारित्रको लुप्तकरनेवाले (उद्रम्) वेगशाली (इन्द्रियगणम्) इन्द्रियोंके समूहको (जित्वा) जीतकर (शुभंयुः भव) मोक्षगामी हो ।

शिखरिणी ।

प्रतिष्ठां यन्निष्ठां नयति नयनिष्ठां विघटय-
त्यकृत्येष्वाधत्ते मतिमतपसि प्रेम तनुते ।
विवेकस्योत्सेकं विदलयति दत्ते च विपदं
पदं तद्दोषाणां करणनिकुरुम्बं कुरु वशे ॥ ७० ॥

मनहरण ।

ये ही हैं कुगतिके निदानी दुखदोपदानी,
इनहीकी संगतिसौं संग-भार वहिये ।
इनकी मगनतासौं विभौको विनाश होय,
इनहीकी प्रीतसौं अनीत पंथ गहिये ॥
ये ही तपभावकौं विडारैं दुराचार धारैं,
इनहीकी तपत विवेक-भूमि दहिये ।
ये ही इन्द्री सुभट इनहिं जीतै सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये ॥ ७० ॥

अन्वयार्थौ—('यत्') जो (प्रतिष्ठाम् निष्ठाम् नयति) सारी प्रतिष्ठाको ले लेता है, (नयनिष्ठाम्) न्यायपरायणताको (विघटयति) नष्ट करता है, (अकृत्येषु) कुकार्योंमें (मतिम्) बुद्धि (आधत्ते) लगाता है, (अतपसि) असयममें (प्रेम) प्रेम (तनुते) बढ़ाता है, (विवेकस्योत्सेकम्) ज्ञानके उत्साहको (विदलयति) दलन करता है (च) और (विपदम्) विपत्तियोंको (दत्ते) देता है, (तत्) उस (दोषाणाम्

पदम्) अनेक दोषोंके स्थान (करणनिकुरंम्बम्) इन्द्रियोंके समूहको हे भाई, तू (वशे) वशमें (कुरु) कर।

शार्दूलविक्रीडित।

धत्तां मौनमगारमुज्झतु विधिप्रागल्भ्यमभ्यस्यता-
मस्त्वन्तर्गणमागमश्रममुपादत्तां तपस्तप्यताम्।
श्रेयःपुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातं न चेदिन्द्रिय-
व्रातं जेतुमवैति भस्मनि हुतं जानीत सर्वं ततः॥७१॥

मौनके धरैया गृहत्यागके करैया विधि,
रीतके सधैया परनिन्दासौं अपूठे हैं।
विद्याके अभ्यासी गिरिकंदराके वासी शुचि,
अंगके अचारी हितकारी बैन छूठे हैं॥
आगमके पाठी मन लाय महा काठी भारी;
कष्टके सहनहार रामाहूसौं रूठे हैं॥
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते,
इन्द्रिनके जीते बिना सरवंग झूठे हैं॥७१॥

अन्वयार्थौ—(मौनम् धत्ताम्) भले ही मौन धारण करो, (अगारम् उज्झतु) गृहका त्याग करो (विधिप्रागल्भ्यम् अभ्यस्यताम्) विधिविधानमें चतुराईका अभ्यास करो, (अन्तर्गणम् अस्तु) किसी भी गच्छादिकमें निवास करो, (आगमश्रमम् उपादत्ताम्) आगम पढ़नेमें परिश्रम करो, (तपः तप्यताम्) तप करो; परन्तु यदि (श्रेयःपुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातम् इन्द्रियव्रातम्) कल्याणरूपी निकुंजोंको उखाड़देनेमें तीव्र पवनके समान इन्द्रियोंके समूहको (जेतुम् न

अवैति चेत्) जीतना नही जानते हो, (ततः) तो (सर्वम् भस्मनि हुतम् जानीत) वह सब भस्मसे होम देनेके समान है ।

भावार्थ—यदि इन्द्रियोंपर विजय नही किया है, तो मौन-धारण गृहत्याग आदि सब क्रियाएँ वृथा हैं ।

धर्मध्वंसधुरीणमभ्रमरसावारीणमापत्प्रथा-
लङ्कर्मीणमशर्मनिर्मितिकलापारीणमेकान्ततः ।
सर्वान्नीनमनात्मनीनमनयात्यन्तीनमिष्टे यथा-
कामीनं कुपथाध्वनीनमजयन्नक्षौघमक्षेमभाक् ॥ ७२ ॥

धर्मतरुभंजनको महा मत्त कुंजरसे,
आपदा भंडारके भरनको करोरी हैं ।
सत्यशील रोकवेको प्रौढ़ परदार जैसे,
दुर्गतिके मारग चलायवेको धोरी हैं ॥
कुमतिके अधिकारी कुनेपथके विहारी;
भद्रभाव ईंधन जरायवेकों होरी हैं ।
मृपाके सहाई दुरभावनाके भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघके अघोरी हैं ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थौ—(धर्म्मध्वंसधुरीणम्) धर्मके नाश करनेमे प्रधानभूत, (अभ्रमरसावारीणम्) सत्यज्ञानको आच्छादन करनेवाले, (आपत्प्रथालंकर्मीणम्) आपत्तियोके विस्तार करनेमे समर्थ, (अशर्मनिर्मितिकलापारीणम्) दुःखोंके उत्पन्न करनेमे चतुर, (एकान्ततः सर्व्वान्नीनम्) सर्वथा समस्त अन्नको भक्षण करनेवाले, (अनात्मनीनम्) आत्माका अहित करनेवाले,

---

१. कुमतेरपि पाठ..

(अनयात्यन्तीनम्) खोटी नीतिमें अधिक प्रीति रखनेवाले, (इष्टे यथाकामीनम्) अपने इष्टपदार्थोंमें स्वेच्छापूर्वक रहनेवाले और (कुपथाध्वनीनम्) खोटे मार्गमें चलनेवाले (अक्षौघम्) इन्द्रियोंके समूहको (अजयन्) जो पुरुष विजय नहीं करता है, (अक्षेमभाक्) वह कल्याणका भाजन नहीं हो सकता है।

भावार्थ—जो पुरुष इन्द्रियोंको वश नहीं करता है, उसका कभी कल्याण नहीं होता।

कमलाधिकार।

निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्कम्भते
चैतन्यं मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव धत्तेऽन्धताम्।
चापल्यं चपलेव चुम्बति दवज्वालेव तृष्णां नय-
त्युल्लासं कुलटाङ्गनेव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति॥ ७२॥

मत्तगयन्द।

नीचकी ओर ढरै सरिता जिम, घूम बढावत नींदकी नाईं।
चंचलता प्रगटै चपला जिम, अंध करै जिम धूमकी झाईं॥
तेज करै तिसना दव ज्यौं, मद ज्यौं मद पोषित मूढके ताईं।
ये करतूति करै कमला जग, डोलत ज्यौं कुलटा विन साईं॥

अन्वयार्थौ—(कमला) यह लक्ष्मी (निम्नगा इव) नदीके समान (नितराम्) निरन्तर (निम्नम् गच्छति) नीचकी ओर ही अर्थात् नीच पुरुषोंके समीप ही जाती है, (निद्रा इव) निद्राके समान (चैतन्यम् विष्कम्भते) चेतनाको लुप्त कर देती है, (मदिरा इव) शराबके समान (मदम् पुष्यति) मद बढाती है (धूम्या इव) सघन धूमके समान

(अन्धताम् धत्ते) अन्धा करती है, (चपला इव) विजलीके समान (चापल्यम् चुम्बति) चंचलता प्रगट करती है, (दवज्वाला इव) दावानल अग्निके समान (तृष्णाम् उल्लासम् नयति) तृष्णा बढ़ाती है और (कुलटाङ्गना इव) वेश्या स्त्रीके समान (स्वैरम् परिभ्राम्यति) स्वतंत्रता पूर्वक चारों ओर फिरती है।

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठा-
द्दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग्बह्वधीनं धनम् ॥७४॥

बंधु विरोध करै निशवासर, दंडनकों नरवै छल जोवै।
पावक दाहत नीर बहावत, है दगओट निशाचर ढोवै॥
भूतलरक्षित जक्ष हरै, करकै दुरवृत्ति कुसंतति खोवै।
ये उतपात उठैं धनके ढिग, दामधनी कहु क्यों सुख सोवै॥७४॥

अन्वयार्थौ—(दायादाः स्पृहयन्ति) भाई बन्धु आदिक कुटुम्बीजन इसके लेनेकी इच्छा करते है, (तस्करगणाः मुष्णन्ति) चोर इसको चुरा ले जाते हैं, (छलम् आकलय्य भूमीभुजः गृह्णन्ति) किसी बहानेसे राजा लोग छुड़ा लेते हैं, (हुतभुक् क्षणात् भस्मीकरोति) अग्नि क्षणभरमें जला देती है, (अम्भः प्लावयते) पानी इसको बहा ले जाता है, (क्षितौ विनिहितम् यक्षाः हठात् हरन्ते) पृथिवीमें गढ़े हुए धनको

---

१ राजा। २ चोर।

यक्ष देवता बलात्कार हर लेते है, और (दुर्वृत्ताः तनयाः निधनम् नयन्ति) दुराचारी पुत्र नष्ट कर डालते है, इसलिये (बह्वधीनम् धनम् धिक्) अनेक पुरुषोंके आधीन रहनेवाले इस धनको धिक्कार है।

नीचस्यापि चिरं चटूनि रचयन्त्यायान्ति नीचैर्नतिं
शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधत्युच्चैर्गुणोत्कीर्तनम्।
निर्वेदं न विदन्ति किञ्चिदकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे
कष्टं किं न मनस्विनोऽपि मनुजाः कुर्वन्ति वित्तार्थिनः॥

मनहरण।

नीच धनवंत ताहि निरख असीस देय,
वह न विलोकै यह चरन गहत है।
वह अकृतज्ञ नर यह अज्ञताको घर,
वह मद लीन यह दीनता कहत है।
वह चित्त कोप ठानै यह वाको प्रभु मानै,
वाके कुवचन सब यह पै सहत है।
ऐसी गति धारै न विचारै कछु गुण दोष,
अरथाभिलाषी जीव अरथ चहत है॥ ७५॥

अन्वयार्थौ—(नीचस्य अपि चिरम् चटूनि रचयन्ति) नीच पुरुषोंकी भी चिरकाल तक खुशामद करते रहते है, (शत्रोः अपि नीचैः नतिम् आयान्ति) शत्रुको भी सादर नमस्कार करते हैं, (अगुणात्मनः अपि उच्चैः गुणोत्कीर्त्तनम् विदधति) निर्गुणी मनुष्योंके भी खूब गुण वर्णन करते रहते है, (अकृतज्ञस्य अपि सेवाक्रमे किञ्चित् निर्वेदम् न विदन्ति) और कृतघ्न मनुष्यकी सेवा करनेमें भी विरक्त नहीं होते हैं, इस तरह

(मनस्विनः अपि वित्तार्थिनः मनुजाः किम् न कुर्वन्ति) मनस्वी पुरुष भी धनके लिये क्या क्या नही करते हैं? सब कुछ करते हैं। ('अहो' कष्टम्) यह बड़े दुःखका विषय है।

लक्ष्मीः सर्पति नीचमर्णवपयः सङ्गादिवाम्भोजिनी-
संसर्गादिव कण्टकाकुलपदा न क्वापि धत्ते पदम्।
चैतन्यं विषसंनिधेरिव नृणामुज्जासयत्यञ्जसा
धर्मस्थाननियोजनेन गुणिभिर्ग्राह्यं तदस्याः फलम्॥७६॥

नीचहीकी ओरको उमंग चलै कमला सो,
पिता सिंधु सलिलस्वभाव याहि दियौ है।
रहै न सुथिर ह्वै सकंटक चरन याकौ,
बसी कंजमाहिं कंज कैसौ पद कियौ है।
जाको मिलै हितसौं अचेत कर डारै ताहि,
विषकी बहिन तातैं विष कैसौ हियौ है।
ऐसी ठगहारी जिन धरमके पंथ डारी,
करकै सुकृत तिन याकौ फल लियौ है॥ ७६॥

अन्वयार्थौ—(लक्ष्मीः) यह लक्ष्मी (अर्णवपयःसङ्गात् इव) मानो समुद्रके जलके सम्बन्धसे ही (नीचम् सर्पति) नीचकी ओर गमन करती है, (अम्भोजिनीसंसर्गात् इव) मानो कमलिनीके संसर्गसे ही (कण्टकाकुलपदा) पैरोंमें काटे चुभनेकी तकलीफसे आकुलित होती हुई (क्वापि पदम् न धत्ते) कही भी स्थिर चरण नही रखती है और (विषसन्निधेः इव) विषके सन्निकट रही है इस लिये मानो (नृणाम्) मनुष्योंकी (चैतन्यम्) चैतन्य शक्तिको (अञ्जसा) शीघ्र ही (उज्जासयति) अचेत कर

डालती है। (तत्) इसलिये (गुणिभिः), गुणवान् मनुष्योंको (धर्मस्थाननियोजनेन) धर्मकार्योंमें खर्च कर देनेसे ही (अस्याः) इस लक्ष्मीका (फलम्) फल (ग्राह्यम्) ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—यह लक्ष्मी समुद्रसे उत्पन्न हुई है, इस लिये जलके समान नीचकी ओर ही जाती है, तथा कमलमें रहती है इस लिये पैरोंमें कांटे चुभ जानेसे कहीं स्थिर नहीं रहती और विषकी बहिन है, इस लिये मनुष्योंको अचेतन कर देती है, अतएव इसको धर्मकार्योंमें लगाकर ही इसके पानेका फल प्राप्त करना चाहिये।

दानाधिकार।

चारित्रं चिनुते तनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमम्।
पुण्यं कन्दलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमा-
न्निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रे धनम्॥ ७७

सवैया (३१ मात्रा)।

चरन अखंड ज्ञान अति उज्जल, विनय विवेक प्रशम अमलान।
अनघ सुभाव सुकृति गुन संचय, उच्च अमरपद बंध विधान॥
आगम गम्य रम्य तपकी रुचि, उद्धत मुकतिपंथसोपान।
ये गुण प्रगट होंय तिनके घट, जे नर देहिं सुपत्तहिं दान॥ ७७।

अन्वयार्थौ—(पवित्रे पात्रे निहितम् धनम्) पवित्र सत्पात्रको दिया हुआ धन (चारित्रम् चिनुते) चारित्र बढ़ाता है, (विनयम् तनोति) विनय बढ़ाता है, (ज्ञानम् उन्नतिं नयति) ज्ञानकी वृद्धि करता है, (प्रशमम् पुष्णाति) शान्तताको पुष्ट

करता है, (तपः प्रबलयति) तपको प्रबल करता है, (आगमम् उल्लासयति) शास्त्रको उल्लसित करता है—शास्त्र ज्ञानको बढाता है, (पुण्यम् कन्दलयति) पुण्यकी जड़ जमाता है, (अघम् दलयति) पापोंका नाश करता है (स्वर्गम् ददाति) स्वर्गको देता है और (क्रमात्) क्रमक्रमसे (निर्वाणश्रियम् आतनोति) मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त कर देता है।

दारिद्र्यं न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालम्बते
 नाकीर्तिर्न पराभवोऽभिलषते न व्याधिरास्कन्दति।
दैन्यं नाद्रियते दुनोति न दरः क्लिश्नन्ति नैवापदः
 पात्रे यो वितरत्यनर्थदलनं दानं निदानं श्रियाम् ॥ ७८

छप्पय।

सो दरिद्र दलमलहि, ताहि दुर्भाग न गंजहि।
सो न लहै अपमान, सु तो विपदाभय भंजहि॥
तिहि न कोइ दुख देहि, तासु तन व्याधि न बड्डइ।
ताहि कुयश परहरहि, सुमुख दीनता न कड्डइ॥
सो लहहि उच्चपदजगतमहँ, अघ अनरथ नासहि सरव।
कहै 'कुँवरपाल' सो धन्य नर, जो सुखेत बोवै दरव ॥७८॥

अन्वयार्थौ—(यः) जो मनुष्य (पात्रे) पात्रके लिये (श्रियाम् निदानम्) लक्ष्मी बढ़नेका कारण और (अनर्थदलनम्) अनर्थोंको दलन करनेवाला (दानम् वितरति) दान देता है, (तम्) उसको (दारिद्र्यम् न ईक्षते) दरिद्रता कभी नही देखती, (दौर्भाग्यम् न भजते) दुर्भाग्यता कभी उसकी सेवा नहीं करती, (अकीर्त्तिः न आलम्बते) अपकीर्त्ति उसका

आलम्वन नहीं लेती, (पराभवः न अभिलषते) तिरस्कार उसको नहीं चाहता, (व्याधिः न आस्कन्दति) आधि व्याधि कभी उसके समीप नही आती, (दैन्यम् न आद्रियते) दीनता भी उसका आदर नहीं करती, (दरः न दुनोति) भय क्षोभ पैदा नहीं करता, और (आपदः नैव क्लिश्नन्ति) विपत्तियां उसको कभी क्लेश नहीं देतीं।

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगतालिङ्गति।
श्रेयः संहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति-
र्मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान्पुण्यार्थमर्थं निजम्॥

मनहरण।

ताहिको सुबुद्धि वरै रमा ताकी चाह करै,
चंदन सरूप हो सुयश ताहि चरचै।
सहज सुहाग पावै सुरग समीप आवै,
वार बार मुकति रमनि ताहि अरचै॥
ताहिके शरीरकों अलिंगति अरोगताई,
मंगल करै मिताई प्रीत करै परचै।
जोई नर हो सुचेत चित्त समता समेत,
धरमके हेतको सुखेत धन खरचै॥ ७९॥

अन्वयार्थौ—(यः पुमान्) जो मनुष्य (निजम् अर्थम्) अपना धन (पुण्यार्थम्) पुन्यकार्योंके लिये (प्रयच्छति) अर्पण कर देता है, (तम्) उसको (लक्ष्मीः कामयते) लक्ष्मी चाहती है, (मतिः मृगयते) सुबुद्धि ढूढ़ती है, (कीर्त्तिः

आलोकते) कीर्त्ति देखती है, (प्रीतिः चुम्बति) प्रीति उसका चुम्बन करती है, (सुभगता सेवते) सुन्दरता उसकी सेवा करती है, (नीरोगता आलिङ्गति) नीरोगता उसका आलिंगन करती है, (श्रेयःसंहतिः अभ्युपैति) कल्याणपरम्परा स्वयं आकर मिलती है, (स्वर्गोपभोगस्थितिः वृणुते) स्वर्गके भोगोपभोगकी सामग्री उसको स्वयं स्वीकार करती है, तथा (मुक्तिः वाञ्छति) मुक्ति उसकी इच्छा करती है।

मन्दाक्रान्ता।

तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरुत्कण्ठिता श्रीः
स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चक्रवर्तित्वऋद्धिः।
पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला कामुकी मुक्तिसंपत्
सप्तक्षेत्र्यां वपति विपुलं वित्तबीजं निजं यः॥ ८०॥

पद्मावती।

ताकी रति कीरति दासी सम, सहसा राजरिद्धि घर आवै।
सुमति सुता उपजै ताके घट, सो सुरलोक संपदा पावै॥
ताकी दृष्टि लखै शिव मारग, सो निरबंध भावना भावै।
जो नर त्याग कपट 'कुँवरा' कह, विधिसौं सप्तखेत धन बावै॥८०

अन्वयार्थौ—(यः) जो पुरुष (निजम् विपुलम् वित्तबीजम्) अपना बहुतसा धनरूपी बीज (सप्तक्षेत्र्याम् वपति) सातक्षेत्रोंमें बोता है अर्थात् चैत्य, चैत्यालय, श्रुतज्ञान, मुनि, अर्जिका, श्रावक, और श्राविका इनके उपकारार्थ खर्च करता है; (रतिः तस्य आसन्ना) प्रीति उसके समीप रहती है, (कीर्त्तिः अनुचरी) कीर्त्ति उसकी दासी बनी रहती है, (श्रीः उत्कण्ठिता)

लक्ष्मी उसके लिये उत्कंठित रहती है, (बुद्धिः स्निग्धा) बुद्धि उससे स्नेह रखती है, (चक्रवर्त्तित्वऋद्धिः परिचयपरा) चक्रवर्त्तीकी ऋद्धियां उससे सदा परिचय रखती हैं, (त्रिदिवकमला पाणौ प्राप्ता) स्वर्गकी लक्ष्मी उसके हाथमें रहती है, और (मुक्तिसम्पत् कामुकी) मुक्तिरूपी लक्ष्मी उससे रमण करनेकी इच्छा रखती है।

तपप्रभावाधिकार।

शार्दूलविक्रीडित।

यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदावानल-
ज्वालाजालजलं यदुग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम्।
यत्प्रत्यूहतमःसमूहदिवसं यल्लब्धिलक्ष्मीलता-
मूलं तद्द्विविधं यथाविधि तपः कुर्वीत वीतस्पृहः॥८१॥

षट्पद।

जो पूरवकृत कर्म,-पिंडगिरि दलन वज्रधर।
जो मनमथ-दव-ज्वाल,-माल संहरन मेघझर॥
जो प्रचंड इंद्रिय भुजंग, थंभन सुमंत्र वर।
जो विभाव संतम सुपुंज, खंडन प्रभात कर॥
जो लब्धि बेल उपजंत घट, तासु मूल दृढ़तासहित।
सो सुतप अंग बहुविध दुविध, करहिं विबुध बांछारहित॥८१॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो तप (पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशम्) पूर्वकालके संचय किये हुए कर्मरूपी पर्वतके लिये वज्रके समान है, (यत्) जो (कामदावानलज्वालाजालजलम्) कामदेवरूपी दावानलकी ज्वालाओंको शान्त करनेके लिये जल है, (यत्)

जो (उग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम्) प्रचण्ड इन्द्रियोंके समूहरूपी सर्पको वश करनेके लिये मन्त्रके समान है, (यत्) जो (प्रत्यूहतमःसमूहदिवसम्) विघ्नरूपी अन्धकारके समूहको नाश करनेके लिये दिवसके समान है, (यत्) और जो (लब्धिलक्ष्मीलतामूलम्) लब्धिरूपी लताओंका मूल है अर्थात् मूल कारण है (तत् द्विविधम् तपः) ऐसा जो अभ्यन्तर और बाह्यरूप दो प्रकारका तप है; उसको (वीतस्पृहः सन्) फलकी वाञ्छा न करके (यथाविधि कुर्वीत) विधिपूर्वक करना चाहिये।

यस्माद्विघ्नपरम्परा विघटते दास्यं सुराः कुर्वते
कामः शाम्यति दाम्यतीन्द्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति।
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वंसं च यः कर्मणां
स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति श्लाघ्यं तपस्तन्न किम्॥

मनहरण।

जाके आदरत महा रिद्धिसौं मिलाप होय,
मदन अव्याप होय कर्म वन दाहिए।
विघन विनास होय गीरवाण दास होय,
ज्ञानकौ प्रकास होय भौसमुद्र थाहिए॥
देवपद खेल होय मंगलसौं मेल होय,
इन्द्रिनिकी जेल होय मोखपंथ गाहिए।
जाकी ऐसी महिमा प्रगट कहै 'कौंरपाल,'
तिहुँलोक तिहुँकाल सो तप सराहिए॥ ८२॥

अन्वयार्थौ—(यस्मात्) जिस तपसे (विघ्नपरम्परा विघटते) विघ्नोंकी परंपरा नष्ट हो जाती है, (सुराः दास्यम्

कुर्वते) स्वर्गनिवासी देव सेवक हो जाते हैं, (कामः शाम्यति) कामदेव शान्त हो जाता है, (इन्द्रियगणः दाम्यति) निखिल इन्द्रियोंका दमन हो जाता है, (कल्याणम् उत्सर्पति) कल्याण बढता रहता है, (महर्द्धयः उन्मीलन्ति) बड़ी बड़ी ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, (च) और (यत्) जो (कर्मणाम् ध्वंसम् कलयति) कर्मोंका विनाश करता है (च) तथा (त्रिदिवम् शिवम् स्वाधीनं भवति) 'जिसके प्रतापसे' स्वर्ग और मोक्ष स्वाधीन हो जाते हैं (तत् तपः किम् न श्लाघ्यम्) ऐसा तप क्या प्रशंसा करने योग्य नही है ? अवश्य है ।

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना
  दावाग्निं न यथापरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरम् ।
निष्णातः पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं
  कर्मौघं तपसा विना किमपरो हन्तुं समर्थस्तथा ॥ ८२ ॥

मत्तगयन्द ।

ज्यौं वर कानन दाहनकौं, दव-पावकसौ नहिं दूसरो दीसै ।
ज्यौं दवआग बुझै न ततच्छन, जो न अखंडित मेघ बरीसै ॥
ज्यौं प्रगटै नहिं जौलग मारुत, तौलग घोर घटा नहिं खीसै ॥
त्यौं घटमैं तपवज्र विना दृढ, कर्मकुलाचल और न पीसै ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थौ—(यथा) जैसे (कान्तारम्) वनको (ज्वलयितुम्) जलानेके लिये (दवाग्निम् विना) दावानल अग्निके विना (इतरः न दक्षः) और कोई समर्थ नहीं है, तथा ('यथा') जैसे (दावाग्निम्) दावानलको (शमयितुम्)

शान्तकरनेके लिये (अम्भोधरम् विना) विना मेघके (अपरः न शक्तः) अन्य कोई शक्तिमान नहीं है, और (यथा) जैसे (अम्भोधरम्) मेघको (निरसितुम्) छिन्नभिन्न करनेके लिये (पवनम् विना) वायुके विना (अन्यः न निष्णातः) आर कोई कुशल नहीं है (तथा) उसी प्रकार (कर्मौघम्) कर्म-समूहको (हन्तुम्) नाश करनेके लिये (विना तपसा) तपके विना (किम् अपरः समर्थः) क्या कोई अन्य समर्थ है?

भावार्थ—कर्म तपसे ही नष्ट हो सकते है। उनके नष्ट करनेके लिये और कोई उपाय नही।

स्रग्धरा।

संतोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः
पञ्चाक्षीरोधशाखः स्फुरदभयदलः शीलसंपत्प्रवालः।
श्रद्धाम्भःपूरसेकाद्विपुलकुलबलैश्वर्यसौन्दर्यभोग-
स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः शिवपदफलदः स्यात्तपःपादपोऽयम्॥[1]

पट्पद।

सुदृढ़ मूल संतोष, प्रशम गुन प्रबल पेड़ ध्रुव।
पंचाचार सु शाख, शील संपति प्रवाल हुव॥
अभय अंग दलपुंज, देवपद पहुप सुमंडित।
सुकृतभाव विस्तार, भार शिव सुफल अखंडित॥
परतीत धार जल सिंच किय, अति उतंग दिन दिन पुषित।
जयवंत जगत यह सुतपतरु, मुनि विहंग सेवहिं सुखित॥ ८४॥

अन्वयार्थौ—(अयं तपः पादपः) यह तपरूपी वृक्ष

---

१. तप·कल्पवृक्षइत्यपि पाठ।

(संतोषस्थूलमूलः) जिसमें कि सन्तोषरूपी मोटी जड़ है, (प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः) प्रशम संवेगादिरूप पींडोंका फैलाव है, (पञ्चाक्षीरोधशाखः) पांचों इन्द्रियोंका निरोधरूप शाखासमूह है, (स्फुरदभयदलः) अभयादि अंगरूप पत्ते लग रहे हैं, (शीलसम्पत्प्रवालः) और शील सम्पत्तिरूपी कोंपले हैं; (श्रद्धाम्भःपूरसेकात्) श्रद्धारूपी जलके सींचनेसे (विपुलकुलैश्वर्यसौन्दर्यभोगस्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः) उच्चकुल, विपुल ऐश्वर्य, उत्कृष्ट सौन्दर्य, और नानाप्रकारके भोग युक्त स्वर्गादिरूप फूल फूलकर (शिवपदफलदः) मोक्षपदरूप फल फलता है।

भावनाधिकार।

शार्दूलविक्रीडित।

नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव त्यागव्यपेतप्रभोः
सेवाकष्टमिवोपरोपणमिवाम्भोजन्मनामश्मनि।
विष्वग्वर्षमिवोषरक्षितितले दानार्हदर्चातपः-
स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठानं विना भावनाम्॥

पद्मावती छन्द।

ज्यौं नीराग पुरुषके सन्मुख, पुरकामिनि कटाच्छ कर ऊठी।
ज्यौं धनत्यागरहित प्रभु सेवन, ऊसरमैं वरषा जिम छूठी॥
ज्यौं शिलमाहिं कमलकौ बोवन, पवन पकर जिम बाँधिए मूठी।
ए करतूति होंय जिम निष्फल, त्यौं विनभाव क्रिया सब झूठी८५

अन्वयार्थौ—(नीरागे तरुणीकटाक्षितम् इव) जैसे विरागी पुरुषके सन्मुख तरुण स्त्रीके कटाक्ष निष्फल हैं, (त्यागव्यपेतप्रभोः सेवाकष्टम् इव) जैसे प्रतिफलरूप धन न

देनेवाले स्वामीकी सेवा करना कष्टमात्र है अर्थात् व्यर्थ है, (अम्भोजन्मनाम् अश्मनि उपरोपणम् इव) जैसे पाषाणमें कमलोंका बीज बोना व्यर्थ है, (ऊपरक्षितितले विष्वग्वर्षम् इव) और जैसे ऊसर भूमिमें वर्षा होना व्यर्थ है, उसीतरह (भावनाम् विना) शुभभावोंके विना अथवा अनित्य अशरण आदि बाहरभावनाओंके चिन्तवनके विना (दानार्हदर्चातपः स्वाध्यायाध्ययनादि अनुष्ठानम्) दान देना, अरहन्तकी पूजा करना, तप करना, स्वाध्याय करना और अध्ययन आदिक अनुष्ठान करना निष्फल है।

सर्वं ज्ञीप्सति पुण्यमीप्सति दयां धित्सत्यघं भित्सति
क्रोधं दित्सति दानशीलतपसां साफल्यमादित्सति।
कल्याणोपचयं चिकीर्षति भवाम्भोधेस्तटं लिप्सते
मुक्तिस्त्रीं परिरिप्सते यदि जनस्तद्भावयेद्भावनाम्॥८६॥

घनाक्षरी।

पूरव करम दहै सरवग्यपद लहै,
गहै पुन्यपंथ फिर पापमें न आवना।
करुनाकी कला जागै कठिन कषाय भागै,
लागै दानशील तप सफल सुहावना॥
पावै भवसिंधु तट खोलै मोखद्वार पट,
शर्म साध धर्मकी धरामें करै धावना।
एते सब काज करै अलखको अंग धरै,
चेरी चिदानंदकी अकेली एक भावना॥ ८६॥

अन्वयार्थौ—(यदि) यदि (जनः) मनुष्य (भावनाम्) भावनाको (भावयेत्) भावे अर्थात् आत्मचिन्तवन करे, तो वह

(सर्वम् ज्ञीप्सति) सबको जाननेवाला अर्थात् केवली होता है, (पुण्यम् ईप्सति) पुण्य उपार्जन करता है, (दयाम् धित्सति) दयाका पालन करता है, (अघम् भित्सति) पापोंको नष्ट करता है, (क्रोधम् दित्सति) क्रोधको हरण करता है, (दानशीलतपसाम् साफल्यम् आदित्सति) दानशील तपको सफल करता है, (कल्याणोपचयम् चिकीर्षति) निरन्तर कल्याणोंकी वृद्धि करता रहता है, (भवाम्बोधेः तटम् लिप्सते) संसाररूपी समुद्रके किनारे लग जाता है और (मुक्तिस्त्रीम् परिरिप्सते) मुक्तिरूपी स्त्रीको आलिंगन करता है।

पृथ्वी।

विवेकवनसारिणीं प्रशमशर्मसंजीवनीं
 भवार्णवमहातरीं मदनदावमेघावलीम्।
चलाक्षमृगवागुरां गुरुकषायशैलाशनिं
 विमुक्तिपथवेसरीं भजत भावनां किं परैः॥ ८७॥

प्रशमके पोपवेकौं अम्रतकी धारासम,
 ज्ञानवन सींचवेकौं नदी नीर भरी है।
चंचल करन मृग बांधवेकौं वागुरासी,
 कामदावानल नासवेकौं मेघझरी है॥
प्रबल कषायगिरि भंजवेकौं वज्र गदा,
 भौ-समुद्र तारवेकौं पौढ़ी महा तरी[1] है।
मोखपंथ गाहवेकौं वेसरी विलायतकी,
 ऐसी शुद्ध भावना अखंड धार ढरी है॥ ८७॥

---

१. अश्वतरी अर्थात् खचरी।

अन्वयार्थौ—भो भव्य हो(विवेकवनसारिणीम्) विवेक-रूपी वनके सिंचन करनेके लिये नदीके समान, (प्रशमशर्म-संजीवनीम्) प्रशम सुखको जीवित रखनेके लिये सजीवनी औषधिके समान, (भवार्णवमहातरीम्) संसाररूपी समुद्रके तिरनेके लिये बडी नौकाके समान, (मदनदावमेघावलीम्) कामदेवरूपी दावानलके शान्तकरनेके लिये मेघमण्डलके समान, (चलाक्षमृगवागुराम्) चंचल इन्द्रियरूपी हरिणोंके बाधनेके लिये जालके समान, (गुरुकषायशैलाशनिम्) प्रबलकषायरूपी पर्वतको नष्ट करनेके लिये वज्रके समान और (विमुक्तपथवे-सरीम्) मोक्षके मार्गमें लेजानेके लिये नही थकनेवाली खच्चरीके समान जो (भावनाम्) आत्माकी भावना है, सो (भजत) चिन्तवन करनी चाहिये। (परैः किम्) अन्यसे क्या प्रयोजन?

शिखरिणी।

धनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलं
क्रियाकाण्डं चण्डं रचितमवनौ सुप्तमसकृत्।
तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि चीर्णं चिरतरं
न चेच्चित्ते भावस्तुषवपनवत्सर्वमफलम् ॥ ८८ ॥

अभानक छन्द।

गह पुनीत आचार, जिनागम जोवना।
कर तप संजम दान, भूमिका सोवना ॥
प. करनी सब निफल, होय बिन भावना।
ज्यों तुष बोए हाथ, कछू नहिं आवना ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थौ—(धनम् वित्तम् दत्तम्) बहुतसे धनका दान दिया, (अखिलम् जिनवचनम् अभ्यस्तम्) निखिल जैनशास्त्रोंका अभ्यास किया, (चण्डम् क्रियाकाण्डम् रचितम्) उग्र चारित्र धारण किया, (अवनौ असकृत् सुप्तम्) सदा भूमिपर शयन किया, (तीव्रम् तपः तप्तम्) तीव्र तप किया, और (चिरतरम् चरणम् अपि चीर्णम्) चिरकालपर्यन्त संयम भी धारण किया; किन्तु (भावः चित्ते न चेत्) यदि हृदयमें भाव न हों अर्थात् ये कार्य आत्मचिन्तवनपूर्वक न किये हों, तो (तुषवपनवत्) धानके छिलकेके बोनेके समान (सर्वम् अफलम्) सब निष्फल है।

विरागाधिकार।

हारिणी।

यदशुभरजः पाथो दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशं
कुशलकुसुमोद्यानं माद्यन्मनःकपिशृङ्खला।
विरतिरमणीलीलावेश्मस्मरज्वरभेषजं
शिवपथरथस्तद्वैराग्यं विमृश्य भवाभयः॥ ८९॥

घनाक्षरी।

अशुभता धूर हरबेकौं नीर-पूर सम,
विमल विरति-कुलबधूकौ सुहाग है।
उदित मदन जुर नासबेकौं जुरांकुश,
अच्छगज थंभनकौं अंकुशकौ दाग है॥
चंचल कुमन कपि रोकबेकौं लोहफन्द,
कुशल कुसुम उपजायबेकौं बाग है।

सूधो मोखमारग चलायवेकौं नामी रथ,
ऐसो हितकारी भयभंजन विराग है ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थौ—(यत्) जो वैराग्य (अशुभरजःपाथः) अशुभरूपी धूलिको शान्त करनेके लिये जल है, (दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशम्) उन्मत्त इंद्रियरूपी हाथीको वश करनेके लिये अंकुश है, (कुशलकुसुमोद्यानम्) कल्याणरूपी पुष्पोंके उत्पन्न होनेके लिये उद्यान (बाग) है, (माद्यन्मनःकपिशृङ्खला) मदोन्मत्त मनरूपी वन्दरके बांधनेके लिये लोहेकी सांकल है, (विरतिरमणीलीलावेश्म) विरति रूपी सुन्दरस्त्रीके क्रीड़ा करनेका भवन है, (स्मरज्वरभेषजम्) कामदेवरूपी ज्वरके दूर करनेके लिये औषधि है, और (शिवपदरथः) मोक्षमें जानेके लिये रथ है, (तत् वैराग्यम्) ऐसे वैराग्यको (विमृश्य) चिन्तवन करके हे भव्यो, तुम (अभयः भव) निडर होओ ।

वसन्ततिलका ।

चण्डानिलः स्फुरितमब्दचयं दवार्चि-
वृक्षव्रजं तिमिरमण्डलमर्कबिम्बम् ।
वज्रं महीध्रनिवहं नयते यथान्तं
वैराग्यमेकमपि कर्म तथा समग्रम् ॥ ९० ॥

अभानक छन्द ।

ज्यौं समीर गंभीर, सघन घन छय करै ।
वज्र विदारै शिखर, दिवाकर तम हरै ॥
ज्यौं दव पावक पूर, दहै वनकुंजकौं ।
त्यौं भंजै वैराग, करमके पुंजकौं ॥ ९० ॥

अन्वयार्थौ—(यथा) जैसे (चण्डानिलः) तीव्र पवन (स्फुरितम् अब्दचयम्) छाये हुए मेघमंडलका (अन्तं नयते) नाश करता है, (यथा) जैसे (दवार्चिः) दावानल अग्नि (वृक्षव्रजम्) वृक्षोंके समूहका (अन्तं नयते) नाश करती है, (यथा) जैसे (अर्कबिम्बम्) सूर्यका बिम्ब (तिमिरमण्डलम्) अंधकारके समूहको (अन्तम् नयते) नाश करता है, (यथा) जैसे (वज्रम्) वज्र (महीध्रनिवहम्) पर्वतोंके समूहको (अन्तम् नयते) नाश करता है, (तथा) उसी तरह (एकम् अपि वैराग्यम्) एक ही वैराग्य (समग्रम् कर्म) समस्त कर्मोंको (अन्तम् नयते) नाश करता है।

भावार्थ—वैराग्य समस्त कर्मोंका नाश करनेवाला है।

शिखरिणी।

नमस्या देवानां चरणवरिवस्या शुभगुरो-
स्तपस्या निःसीमक्रमपदमुपास्या गुणवताम्।
निषद्यारण्ये स्यात्करणदमविद्या च शिवदा
विरागः क्रूरागःक्षपणनिपुणोऽन्तः स्फुरति चेत्॥

पद्मावती छन्द।

कीनी तिन सुदेवकी पूजा, तिन गुरुचरनकमल चित लायौ।
सो वनवास वस्यौ निशवासर, तिन गुनवंत पुरुष यश गायौ॥
तिन तप लियौ कियौ इन्द्री दम, सो पूरन विद्या पढ़ आयौ।
सब अपराध गए ताकौ तजि, जिन वैरागरूप धन पायौ॥ ९१॥

अन्वयार्थौ—(अन्तः विरागः स्फुरति चेत्) यदि अन्तःकरणमें वैराग्य स्फुरायमान होता है, तो (देवानाम्

नमस्या स्यात्) देवाधिदेवकी पूजा हो सकती है, (शुभगुरोः चरणवरिवस्या स्यात्) कल्याण करनेवाले गुरुके चरणकमलोंकी उपासना हो सकती है, (निःसीमक्लमपदम् तपस्या स्यात्) अत्यन्त क्लेश देनेवाला तप हो सकता है, (गुणवताम् उपास्या स्यात्) गुणवान् पुरुषोंकी उपासना हो सकती है, (अरण्ये निपद्या स्यात्) वनमें योगासन अर्थात् ध्यान हो सकता है, (शिवदा करणदमविद्या स्यात्) मोक्षदेनेवाली इन्द्रियोंके दमनकी विद्या (कुशल) आ सकती है और (क्रूरागः क्षपण-निपुणः) तीव्र पापोंके क्षय करनेकी सामर्थ्य हो सकती है।

शार्दूलविक्रीडित।

भोगान्कृष्णभुजङ्गभोगविषमान्राज्यं रजःसंनिभं
वन्धून्बन्धनिवन्धनानि विषयग्रामं विषान्नोपमम्।
भूतिं भूतिसहोदरां तृणतुलं स्त्रैणं विदित्वा त्यजं-
स्तेष्वासक्तिमनाविलो विलभते मुक्तिं विरक्तः पुमान्॥

घनाक्षरी छन्द।

जाकौं भोग भाव दीसैं कारे नागकैसे फन,
राजकौ समाज दीखै जैसो रजकोप है।
जाकौं परिवारकौ वढ़ाव वेरावंध सूझै,
विषै सुख सौंजकौ विचारै विषपोष है॥
लसै यौं विभूति ज्यौं भसमकौं विभूति कहैं,
वनिता विलासमैं विलोकै दृढ दोष है।
ऐसो जान त्यागै, यह महिमा विरागताकी
ताहीकौ वैराग सही ताके ढिग मोष है॥ ९२॥

अन्वयार्थौ—(**विरक्तः पुमान्**) विरक्त मनुष्य (**भोगान्**) संसारके भोगोंको (**कृष्णभुजङ्गभोगविषमान् विदित्वा**) काले सर्पके फणके समान विषम जानकर, (**राज्यम्**) राज्यको (**रजः सन्निभम्**) धूलिके समान जानकर, (**बन्धून्**) भाई वगैरह कुटुम्बी जनोंको (**बन्धनिबन्धनानि**) बंधके कारण जानकर, (**विषयग्रामम्**) इन्द्रियोंके विषयोंको (**विषान्नोपमम्**) विष मिले हुए अन्नके समान जानकर, (**भूतिम्**) हाथी घोड़े रथादिकी विभूतिको (**भूतिसहोदराम्**) भसकी बहिन जानकर और (**स्त्रैणम्**) स्त्री सुखको (**तृणतुलम् विदित्वा**) तृणके समान जानकर (**तेषु**) उनमें अर्थात् भोगोपभोग राज्य बन्धु विषय विभूति और स्त्रीमें (**आसक्तिम् त्यजन्**) आसक्ति छोड़ कर (**अनाविलः 'सन्'**) अतिशय शुद्ध होता हुआ (**मुक्तिम् विलभते**) मोक्षको प्राप्त होता है।

उपदेशगाथा।

उपेन्द्रवज्रा।

जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः सत्त्वानुकम्पा शुभपात्रदानम्।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ९२

मत्तगयन्द।

कै परमेसुरकी अरचा, विधिसौं गुरुकी उपसर्पन(?)कीजै।
दीन विलोक दया धरिए चित, प्रासुक दान सुपत्तहिं दीजै॥
गाहक हो गुनकौं गहिए, रुचिसौं जिन आगमकौ रस पीजै।
ए करनी करिए घरमैं बस, यौं जगमैं नरभौ फल लीजै॥ ९२॥

अन्वयार्थौ—(**जिनेन्द्रपूजा**) जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना,

(**गुरुपर्युपास्ति**) गुरुकी उपासना करना, (**सत्त्वानुकम्पा**) प्राणीमात्रमें दया रखना, (**शुभपात्रदानम्**) पात्र सुपात्रोंको उत्तम दान देना, (**गुणानुरागः**) गुणोंमें प्रीति करना, (**आगमस्य श्रुतिः**) और जैन शास्त्रोंका सुनना, (**अमूनि**) ये सब (**नृजन्मवृक्षस्य फलानि**) मनुष्यजन्मरूपी वृक्षके फल है।

भावार्थ—जिनेन्द्रपूजा आदिक करनेसे ही मनुष्य जन्म सफल होता है।

शिखरिणी।

त्रिसन्ध्यं देवार्चां विरचय चयं प्रापय यशः
श्रियः पात्रे वापं जनय नयमार्गं नय मनः।
स्मरक्रोधाद्यारीन्दलय कलय प्राणिषु दयां
जिनोक्तं सिद्धान्तं शृणु वृणु जवान्मुक्तिकमलाम्॥

हरिगीता छन्द।

जो करै साध त्रिकाल सुमरन, जास जग जस विस्तरै।
जो सुनै परमानहि सुरुचिसौं, नीति मारग पग धरै॥
जो निरख दीन दया प्रजुंजै, कामक्रोधादिक हरै।
जो सुधन सप्त सुखेत खरचै, ताहि शिवसंपति वरै॥ ९४॥

अन्वयार्थौ—भो भव्यो, (**त्रिसन्ध्यम्**) प्रातःकाल मध्याह्न-काल और सायंकालमें (**देवार्चाम् विरचय**) देव पूजा करो, (**यशः-चयम् प्रापय**) यश-समूहको प्राप्त करो, (**पात्रे श्रियः वापम् जनय**) पात्रोंको दान देकर लक्ष्मीका बीज बोओ, (**मनः नय-मार्गम् नय**) मनको नीतिमार्गपर लाओ, ([illegible]
काम क्रोध आदिक शत्रुओंको (**दलय**) दलन करो

दयाम् कलय) प्राणियोंमें दया धारण करो, (जिनोक्तम् सिद्धान्तम् शृणु) जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंको सुनो, और (जवात्) शीघ्र ही (मुक्तिकमलाम्) मुक्तिरूपी लक्ष्मीको (वृणु) स्वीकार करो ।

शार्दूलविक्रीडित ।

कृत्वार्हत्पदपूजनं यतिजनं नत्वा विदित्वागमं
हित्वा सङ्गमधर्मकर्मठधियां पात्रेषु दत्वा धनम् ।
गत्वा पद्धतिमुत्तमक्रमजुषां जित्वान्तरारिव्रजं
स्मृत्वा पञ्चनमस्क्रियां कुरु करक्रोडस्थमिष्टं सुखम् ॥

वस्तु छन्द ।

देव पुज्जहिं देव पुज्जहिं, रच्चहिं गुरुसेव ।
परमागमरुचि धरहिं, तजहिं दुष्टसंगत ततच्छन ।
गुणि संगति आदरहिं, करहिं त्याग दुर्भच्छ भच्छन ॥
देहिं सुपात्रहिं दान नित, जपैं पंचनवकार ।
ए करनी जे आचरहिं, ते पावैं भवपार ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थौ—हे भव्य (अर्हत्पदपूजनम् कृत्वा) अरहंतदेवके चरणकमलोंकी पूजन करके, (यतिजनम् नत्वा) आचार्य उपाध्याय और साधुजनोंको नमस्कार करके, (आगमम् विदित्वा) शास्त्रको जानकरके (अधर्मकर्मठधियाम् सङ्गम् हित्वा) निरन्तर अधर्म करनेवाले दुष्ट मनुष्योंकी संगति छोड़ करके, (पात्रेषु धनम् दत्वा) पात्र सुपात्रोंको धन देकरके, (उत्तमक्रमजुषाम् पद्धतिम् गत्वा) श्रेष्ठ कार्य करनेवाले गुणी मनुष्योंके मार्गानुसार चलकरके, (अन्तरारिव्रजम् जित्वा) कामक्रोधादिक अन्तरंग शत्रुओंको जीतकरके और (पञ्चनम-

स्क्रियाम् स्मृत्वा) 'णमो अरहंताणम्' इत्यादि पंच नमस्कार मंत्रका जप करके (इष्टम् सुखम्) अपने इष्ट मोक्षादि सुखको (करक्रोडस्थम् कुरु) हाथमें ले ।

भावार्थ—अर्हत्पूजनादिक करनेसे इष्ट मोक्षादिकके सुखकी प्राप्ति होती है ।

हरिणी ।

प्रसरति यथा कीर्तिर्दिक्षु क्षपाकरसोदरा-
भ्युदयजननी याति स्फीतिं यथा गुणसन्ततिः ।
कलयति यथा वृद्धिं धर्मः कुकर्महतिक्षमः
कुशलसुलभे न्याय्ये कार्यं तथा पथि वर्तनम् ॥ ९६ ॥

दोहा ।

गुरु अरु धर्म सुथिर रहै, यश प्रताप गंभीर ।
कुशल वृक्ष जिम लहलहै, तिहिं मारग चल वीर ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थौ—(यथा) जैसे (क्षपाकरसोदराकीर्तिः) चन्द्रमाकी चादनीके समान निर्मल कीर्त्ति (दिक्षु) चारों दिशाओंमें (प्रसरति) फैले, तथा (यथा) जैसे (अभ्युदयजननी गुणसन्ततिः) अनेक कल्याणोंके देनेवाले गुणोंके समूह (स्फीतिम् याति) स्फुरायमान हों, (यथा) और जैसे (कुकर्म-हतिक्षमः धर्मः) समस्त पापोंके नाश करनेवाला धर्म (वृद्धिम् कलयति) वृद्धिको प्राप्त हो; (तथा) उसीतरह (कुशलसुलभे न्याय्ये पथि वर्त्तनम् कार्यम्) सुलभतासे कल्याण करनेवाले न्याय्य मार्गमें अपना वर्त्ताव करना चाहिये ।

शिखरिणी।

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनं
मुखे सत्या वाणी श्रुतमधिगतं च श्रवणयोः।
हृदि स्वच्छा वृत्तिर्विजयि भुजयोः पौरुषमहो
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥ ९७ ॥

कवित्त छन्द।

वंदन विनय मुकट सिर ऊपर, सुगुरुवचन कुंडल जुग कान।
अंतर शत्रुविजय भुजमंडन, मुकतमाल उर गुन अमलान ॥
त्याग सहज कर कटक विराजत, शोभित सत्य वचन मुख पान।
भूषन तजहिं तऊ तन मंडित, यातैं सन्तपुरुष परधान ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थौ—(अहो) आश्चर्य है कि (प्रकृतिमहताम्) स्वभावसे ही बड़े सज्जनपुरुषोंके (करे श्लाघ्यस्त्यागः) हाथोंमें प्रशंसनीय दान देना, (शिरसि गुरुपादप्रणमनम्) मस्तकमें निर्ग्रन्थ गुरुके चरणारविन्दको नमस्कार करना, (मुखे सत्या वाणी) मुखमें सत्यवचन बोलना, (श्रवणयोः अधिगतम् श्रुतम्) कर्णोंमें प्राप्त हुआ श्रुतज्ञान (हृदि स्वच्छा वृत्तिः) हृदयमें निर्मल आचरण अथवा निर्मल विचार (च) और (भुजयोः विजयि पौरुषम्) भुजाओंमें सबको विजय करनेवाला पौरुष (इदम्) ये सब (ऐश्वर्येण विना) विना ही ऐश्वर्यके (मण्डनम्) भूषण है।

भावार्थ—सज्जन पुरुष विना ही ऐश्वर्यके हाथोंमें दान देने रूप कंकण, मस्तकमें गुरूपासनारूप मुकुट, मुखमें सत्यवचनरूपी पान, कानोंमें शास्त्र सुननेरूप कुंडल, हृदयमें स्वच्छ आचरणरूपी

मुक्तामाला और भुजाओं में पौरुष रूपी

दिव्य भूषणों से सदा भूषित रहते हैं।

नोट—नीचे लिखे तीन कवित्तों के मूल

श्लोक नहीं मिले। ---- ———

घनाक्षरी।

गहैं जे सुजन रीत गुणीसों निबाहैं प्रीत,

सेवा साधैं गुरु की विनैसों कर जोरकैं।

विद्या को विसन धरैं परतियसंग हरैं,

दुर्जन की संगतिसों बैठैं मुख मोरकैं॥

तजैं लोक निन्द्य काज पूजैं देव जिनराज,

करैं जे करन थिर उमंग बहोरकैं।

तेई जीव सुखी होंय तेई मोखमुखी होंय,

तेई होंय परम करम फन्द तोरकैं॥१॥

पर निन्दा त्याग कर मनसैं वैराग धर,

क्रोध मान माया लोभ चारौं परिहर रे॥
हिरदे में तोष गहु समता सौं सीरो रहु,
धरम कौं लहु भेद खेद मैं न पर रे॥
करम को वंश खोय सुकति को पंथ जोय,
सुकृति को बीज बोय दुगति सौं डर रे॥
अरे नर ऐसो होय बार बार कहूं तोय,
नोहिं तो सिधार तू निगोद तेरो घर रे॥

(कवित्त ३१ मात्रा)।

आलस त्याग जाग नर चेतन, बल संभार मत करहु विलंब।
इहाँ न सुख लवलेश जगतमांहि, निंब विरख में लगैं न आंब॥
तातैं तू अंतर विपच्छ हर, कर विलच्छ निज अच्छ-कदंब।
गह गुन ग्यान बैठ चारित रथ, देहु मोख मग सन्मुख बंब॥३१॥

भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं
तदानीं मा कार्षीर्विषयविषवृक्षेषु वसतिम्।
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा-
दयं जन्तुर्यस्मात्पदमपि न गन्तुं प्रभवति॥९८॥

इस मूल श्लोक का पद्यानुवाद किसी भी प्रतिमें नहीं है